□ समता : दर्शन और व्यवहार

□

व्याख्याता :

आचार्य श्री नानालाल जी महाराज

□

द्वितीय संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण : १९८५

मूल्य : १५.०० रुपया

□

प्रकाशक :

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, रामपुरिया मार्ग

बीकानेर–३३४ ००१ (राजस्थान)

□

मुद्रक :

अजन्ता प्रिण्टर्स

घी वालों का रास्ता,

जौहरी बाजार, जयपुर–३

प्रकाशकीय

समता जीवन है, जीवन का स्वभाव है। स्वभाव का अभाव नहीं होता। स्वभाव साहजिक होता है, आरोपित नहीं होता। स्वभाव पाया नहीं जाता, स्वतः प्रगट है। इसीलिये जीवन के समग्र प्रयास साहजिक रूप से समता के लिये होते है। समता-उपलब्धि जीवन-प्रक्रिया का सार है, परिश्रम है और पुरुषार्थ है।

अपने समग्र स्वरूप में आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा में जानना, प्राप्त करना अर्थात् स्वानुभूति में प्रकाशमान होना, स्व को प्रकाशित करना— समता है। आसक्ति ही आत्मा के स्वकेन्द्र से च्युति का कारण है। आसक्ति के फलस्वरूप एक के प्रति राग और दूसरे के प्रति द्वेष हो ही जाता है। राग आकर्षण का सिद्धान्त है और द्वेष विकर्षण का। स्व-पर, अपना-पराया, राग-द्वेष, आकर्षण-विकर्षण के कारण ही जीवन में सदैव संघर्ष अथवा द्वन्द्व की स्थिति बनी रहती है और उससे क्षोभ-संकल्प-विकल्पों का क्रम चलता रहता है। यद्यपि आत्मा अपनी स्वाभाविक शक्ति समता की स्थिति में रमण करती है, लेकिन राग-द्वेष आदि की उपस्थिति किसी भी स्थायी सन्तुलन की स्थिति को सम्भव नहीं होने देती। यही विषमता का मूल आधार है।

अनादिकालीन कर्मजन्य सशरीरी आत्मा वाह्य उत्तेजनाओ एव सवेदनाओ मे प्रभावित होने के कारण नगण्य, महत्त्वहीन, पर-पदार्थों मे स्व का आरोपण कर साहजिक समता के केन्द्र-विन्दु, स्व का प्रकटरूप मे अपलाप अथवा परित्याग कर देता है और उन पर पदार्थों से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिये स्व का ऊपरी तौर पर विसर्जन ही समता का अभाव और विषमता की प्रवृत्ति है।

विषमता की वृत्ति मानव के मन, वचन, काया के आन्तरिक आयामो तक मे समाविष्ट होने से व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एव विश्व को व्याकुल बनाये हुए है। मानव-जीवन को स्पर्श करने वाले व्यवहार और व्यवस्थातत्र मे विशृ खलता व्याप्त है और इसके फलस्वरूप मूक प्राणियो का सहार, शोषण एव भौतिक सपदाओ के सग्रह के स्वर मुखर हैं।

इन से परित्राण का उपाय स्व की ओर प्रत्यावर्तन है। यह प्रत्यावर्तन ही समतादर्शन है। दार्शनिक दृष्टि से ममत्व के शमनपूर्वक समता की साधना अनासक्त योग एव निष्काम कर्म की सिद्धि है। सत् विचार, वाचा और व्यवहार समता-साधना का सम्यक् आधार है।

समता विचार भी है और आचार भी है। वैचारिक समता का आधार है प्राणीमात्र के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करना एव स्वय अपने लिये किसी को कष्ट न पहुंचाना।

विचार की सफल परिणति सत् आचार मे है। मानव सयम को महत्त्व देते हुए समवितरण के लिये प्रवृत्त हो। अपने दायित्व के अनुरूप सम्यक् चेष्टा करे। अधिकार पद की आकाक्षा से उदासीन रह कर कर्त्तव्य को महत्त्वपूर्ण माने और कर्त्तव्य-तत्पर बने।

परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म० सा० ने अपने प्रवचनो मे समता-दर्शन के माध्यम से जीवन की विषमता और समाधान रूप समता का विशद विवेचन किया है। समता-सिद्धान्त-दर्शन, जीवन-दर्शन, आत्मदर्शन तथा परमात्मदर्शन के चार दार्शनिक स्तभो पर समता का जो व्यावहारिक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, वह आज की विषम

परिस्थितियो मे व्यक्ति से लेकर विश्व तक मे सत् परिवर्तन की क्रान्तिकारी क्षमता रखता है। आचार्यश्रीजी द्वारा निर्देशित आचरण के आधारभूत २१ सूत्र और समतावादी, समताधारी एव समतादर्शी के रूप मे जीवन-साधना के तीन सोपान इस विचारधारा की व्यावहारिकता को असदिग्ध बनाते है। यह एक व्यावहारिक समाज-दर्शन के रूप मे सामने है। यदि इस दिशा मे प्रयास किया जाये तो 'समता-समाज' की विचारधारा साकार हो सकती है।

आचार्यश्रीजी के प्रवचनो के आधार पर प्रस्तुत पुस्तक 'समता दर्शन और व्यवहार' का सपादन श्री शान्तिचन्द्र मेहता एम० ए०, एल०-एल० बी०, एडवोकेट ने मनोयोगपूर्वक किया है। सपादक महोदय ने आचार्यश्रीजी के विचारो को लाक्षणिक शैली एव प्राजल भाषा मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

आचार्यश्रीजी के विचारो के प्रस्तुतिकरण मे मूल व्याख्याओ के भाव और भाषा का ध्यान रखा गया है फिर भी भाव भाषा-सम्बन्धी कोई अनौचित्य दिखाई पडे अथवा भावाभिव्यजना मे न्यूनाधिकता प्रतीत हुई हो तो उसके लिये उत्तरदायी आकलनकर्त्ता एव प्रकाशक हैं। परम पूज्य आचार्यश्रीजी एव विज्ञ पाठको से हम इस हेतु क्षमाप्रार्थी हैं।

आकलनकर्त्ता श्री शातिचन्द्र जी मेहता ने आचार्यश्रीजी के प्रवचनो मे मे समता-दर्शन के विचारो का सकलन करके भाव व भाषा को अधिकाशत सुरक्षित रखते हुए जो ग्रन्थ का सारयुक्त सपादन किया है, तदर्थ हम उनके कृतज्ञ हैं।

इस कृति का प्रथम सस्करण स० २०३० मे प्रकाशित हुआ था। यह पुस्तक विद्वत् समाज एव जनसाधारण दोनो के लिए विशेष उपयोगी और समता समाज रचना मे मार्गदर्शक सिद्ध हुई है। इसकी माग बराबर आती रही फलस्वरूप यह द्वितीय सशोधित परिवर्द्धित सस्करण पाठको के हाथो मे प्रस्तुत करते हुए हमे प्रसन्नता है। इसके परिष्कार मे डॉ० नरेन्द्र भानावत का एव

मुद्रण में अजन्ता प्रिन्टर्स जयपुर के संचालक श्री जितेन्द्र संघी का जो सहयोग मिला है, तदर्थ आभार मानते हैं।

गुमानमल चोरड़िया
संयोजक, साहित्य समिति
श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ,
बीकानेर

महावीर जयन्ती,
१९८५

❁

प्रथम संस्करण के दो शब्द

आकलन के सम्बन्ध मे

मानव मन मे समता की चाह सदा से रही है, वल्कि समाज मे समता की स्थिति लाने के लिये अब तक किया जा रहा उसका सघर्ष ही मानवता के विकास का सच्चा इतिहास है। लोकतन्त्र राजनीतिक समता का प्रतीक है तो समाजवाद आर्थिक एव सामाजिक समता का, किन्तु जो समता हृदय की गहराइयो मे से उद्भूत होकर स्वय की जागृति एव इच्छा के वल पर समभाव, सम-दृष्टि एव सम-व्यवहार की सदाशयता से स्थापित होती है, वही समता सर्वव्यापक तथा सर्वदा सुखकारक वन सकती है। इसी समता के विविध पहलुओ पर विगत कई वर्षों मे आचार्यश्री नानालालजी महाराज अपने ज्ञान एव अपनी साधना का मथन रूप गम्भीर विश्लेषण अपने प्रवचनो के माध्यम से व्यक्त करते रहे हैं। उन्ही प्रवचनो के मूल भावो का आकलन मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ मे किया है।

आचार्य श्री की भावधारा से मैं पिछले २० वर्षों से परिचित रहा हूँ एव मैंने उसी के आधार पर उनकी मौलिक विचारधारा को उनकी भाषा एव शैली मे, यथाशक्ति यथावत् रखते हुए अभिव्यक्ति देने का नम्र प्रयास किया है। उन भावो और भाषा मे कही विसगति दीखे तो वह मेरी है। कही-कही समता समाज के सम्बन्ध मे क्रियात्मक सुझाव दिये गये है और विशेष रूप से १०वें अध्याय मे पृष्ठ १५२ पर जो आवेदन पत्र का प्रारूप* दिया गया है, वह आचार्यश्री जी के मर्यादित भावो के आधार पर मेरे द्वारा प्रारूपित है। आचार्यश्री के विचार एव उनकी अभिव्यक्ति तो पूर्णत साधु मर्यादाओ मे ही होती है, अत प्रस्तुत ग्रन्थ मे भाव, भाषा एव शैली की जो अमर्यादा प्रतीत हो, उसे आकलन एव सम्पादन का दोष समझें तथा उसके लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

---

* प्रस्तुत द्वितीय सस्करण मे आवेदन-पत्र का यह प्रारूप पृ० १७९ पर प्रकाशित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे समता के दार्शनिक एव व्यावहारिक पक्षो पर आचार्यश्री का जो गम्भीर चिन्तन प्रकट हुआ है, वह सम्पूर्ण मानव समाज के लिये सच्ची प्रगति का अमृत-पाथेय बन सकता है। अपेक्षा यही है कि इस गम्भीर चिन्तन को अपने आचरण मे यथासाध्य अधिकाधिक व्यावहारिक रूप दिया जाय, ताकि व्यक्ति एव समाज के वर्तमान विषम जीवन मे नई क्रान्ति लाई जा सके एव नये उन्नायक मूल्यो की स्थापना हो।

इसी शुभाशा के साथ—

ए-४, कुम्भानगर,
चित्तौड़गढ़ (राज०)

—शान्तिचन्द्र मेहता
एडवोकेट

प्रथम संस्करण

की

प्रस्तावना

आचार्यश्री नानालालजी महाराज साहब के प्रवचनो के सकलन 'समता दर्शन और व्यवहार' पर दो शब्द लिखना धृष्टता नहीं तो और क्या है ? परन्तु ग्रन्थ के प्रकाशक एव अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैनसघ के सहमत्री श्री भँवरलालजी कोठारी भी मानते कब है ? आचार्यश्रीजी के प्रवचन के कुछ अश उनके चरणो मे बैठकर सुने है। उन पर अपनी अज्ञता की छाप लगाऊँ, यह असह्य है। परन्तु प्रसन्नता है कि अज्ञता-प्रदर्शन का भी आज मौका लगा। तथा-कथित पण्डिताई का प्रदर्शन तो सब करते हैं परन्तु अज्ञता-प्रदर्शन का सुअवसर भी कदाचित् पुण्ययोग से ही मिलता है।

वर्तमान जीवन मे व्यक्ति से अन्तर्राष्ट्रीय जगत् तक व्याप्त विषमता एव उनकी विभीषिका, विग्रह एव विनाश की कगार, असन्तुलन एव आन्दोलन आचार्यश्रीजी ने अपनी आत्मदृष्टि से देखा एव मानवता के करुण क्रन्दन से द्रवित हो उसको बचाने के लिये उपदेशामृत की धारा प्रवाहित की है।

समता-सिद्धान्त नया नही है—वीर प्ररूपित वचन है व जैनदर्शन का मूलाधार है। परन्तु इसे धर्म की सकीर्णता मे बधा देख व उसकी

व्यापक महत्ता का ज्ञान जन-जन को न होने से इसे नये सन्दर्भ व दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। यह किसी वर्ग विशेष के लिये नही वरन् प्राणीमात्र के लिये है। यदि मानवता के किसी भी वर्ग ने समता-सिद्धान्त को न समझकर विषमता की ओर कदम बढाये तो समग्र विश्व के लिये खतरा उत्पन्न हो सकता है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर व्यापक मानव-धर्म के रूप मे समतादर्शन को प्रतिपादित किया है।

समता जीवन की दृष्टि है। जैसी दृष्टि होगी वैसा ही आचरण होगा। जैसा मानव देखता है वैसी ही उसकी प्रतिक्रिया होती है। यदि एक साधारण रस्सी को मनुष्य भ्रमवश साप समझ ले तो उसमे भय, क्रोध व प्रतिशोध की प्रतिक्रिया होती है। यदि कदाचित् साप को ही रस्सी समझ ले तो निर्भीकता का आचरण होता है। यही सिद्धान्त जीवन के हर पहलू पर लागू होता है। यदि किसी भी वस्तु को सम्यक् व सही रूप से समझने की दृष्टि रखे व उसी रूप से आचरण करने का प्रयत्न करे तो सामाजिक असन्तुलन, विग्रह व विषमता समाज मे हो नही सकती। यही आचार्यश्री जी का मूल सन्देश है।

आचार्यश्री ने सिद्धान्त प्रतिपादित कर छोड दिया हो ऐसी बात नही है। सिद्धान्त को कैसे व्यवहार मे परिणत किया जाय, इस पर भी पूरा विवेचन किया है। सिद्धान्तदर्शन के अतिरिक्त जीवनदर्शन, आत्मदर्शन व परमात्मदर्शन के विविध पहलुओ मे कैसा आचरण हो, इसका पूरा निरूपण किया है।

आज की युवा पीढी पूछती है—धर्म क्या है? किस धर्म को माने? मन्दिर मे जाये या स्थानक मे—? अथवा आचरण शुद्धता लाये? धर्म-प्ररूपित आचरण आज के वैज्ञानिक युग मे कहाँ तक ठीक है व इसका क्या महत्त्व है? कतिपय धर्मानुरागियो के 'धर्माचरण' व 'व्यापाराचरण' मे विरोध को देखकर भी युवा पीढी धर्मविमुख होती जा रही है। धर्म ढकोसले मे नही हैं। आचरण मे है। धर्म जीवन का अग है। समता धर्म का मूल है। इस तर्कसगत विवेचन व वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आचार्यश्री ने आधुनिक पीढी को भी आकर्षित करने का प्रयत्न किया है।

स्वाद चखने मे है, देखने मे नही। इस पुस्तक का महत्त्व पढने मे नही, आचरण मे है। आचरण की कोई सीधी सरल सडक नही है। सयम सीढी है और असयम एक ढलान। सीढी पर चढने मे जोर लगाना पडता है पर ढलान मे कुछ नही। ढुलकने मे जैसे बालक को आनन्द आता है वैसे ही असयम मे अधिकतर मस्त रहते हैं। ढुलकना अच्छा लगता है जबतक गर्त मे न गिर जायें। गर्त मे गिरने पर ही सीढी का महत्त्व मालूम होता है। जिन्होने देखा व जाना, वे सीढी का मार्ग बताते हैं। निर्णय हमें करना है कि समता की सीढी पर चढना है या विषमता मे लुढकना है। जो चढना चाहते हैं उनके लिये यह पुस्तक अमृतपान है। आचार्यश्री का आह्वान है—पीओ और आगे बढो!

बीकानेर

रणजीत सिंह कूमट
शिक्षा-निदेशक
प्राथमिक एव माध्यमिक शिक्षा,
राजस्थान

समता-सूक्त

समतामय जीवन हो सबका,
समता हो जीवन का कर्म ।
रम जाये अन्तर-बाहर मे,
समता का शुभ मंगल मर्म।

समता से दिग्भ्रान्त विश्व मे,
आओ समता पाठ पढ़ें ।
सहज सुमति से समदर्शन पर,
आओ हम नव साथ बढ़ें ।।

समता का विस्तार, विषमता
के इस युग मे करना है ।
'गुरु नाना" के समदर्शन से,
परम "शान्ति" को वरना है ।।

—शान्ति मुनि

अनुक्रमणिका

विषयानुक्रम पृष्ठ

विषयानुक्रम पृष्ठ

विषयानुक्रम पृष्ठ

विषयानुक्रम पृष्ठ

विषयानुक्रम पृष्ठ

विषयानुक्रम पृष्ठ

विषयानुक्रम पृष्ठ

—:०:—

: १ :

वर्तमान विषमता की विभीषिका

आज सारे ससार मे विषमता की सर्वग्राही आग धू-धू करके जल रही है। जहा दृष्टि जाती है, वही प्राय दिखाई देता है कि हृदय मे अशान्ति, वचन मे विशृ खला एव जीवन मे स्वार्थ की विक्षिप्तता ने सब ओर मनुष्यता के कोमल और हार्दिक भावो को आच्छादित कर दिया है। ऐसा लगता है कि चचलता मे गोते लगाता हुआ मनुष्य का मन भ्रष्टता एव विकृति के गर्त की ओर निरन्तर अग्रसर होता चला जा रहा है।

सस्कृति एव सभ्यता के विकास का मूल विन्दु ही यह होता है कि सुसस्कृत एव सभ्य मनुष्य अपने तुच्छ स्वार्थों का त्याग कर पहले दूसरो के लिये सोचे—दूसरो के लिये कुछ करे और अपने लिये वाद मे। अपने स्वार्थ को छोडकर जो जितना अधिक पर-हित मे अपने आपको लगा देता है, उसे उतना ही अधिक संस्कृत एव सभ्य मानना चाहिये। किन्तु वर्तमान विषम वातावरण की सबसे बडी विडम्बना यही है कि मनुष्य अधिकाशत केवल अपने और अपने लिये सोचता है—अपने स्वार्थों की ही येनकेन प्रकारेण पूर्ति करना चाहता है। लगता है आपाधापी मे वह अपनी अब तक की विकसित समूची सस्कृति तथा सभ्यता को भी भुलाता जा रहा है।

जब इस प्रकार मनुष्य अपनी सस्कृति और सभ्यता को भुला देगा, अपनी आस्था एव निष्ठा को खो देगा और अपनी चेतना के दीप को बुझा देगा तो क्या वह पुन अपने आदिमकालीन अविकास मे नही डूब जायगा? विचारणीय है कि आज की यह विषमता मनुष्य को कहाँ ले जायगी?

सर्वव्यापी विषमता

अमावस्या की मध्य रात्रि का अन्धकार जैसे सर्वव्यापी हो जाता है, वैसी ही सर्वव्यापी यह विषमता हो रही है। क्या व्यक्ति के हृदय की आन्तरिक गहराइयो में, तो क्या बाह्य ससार मे व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र एव समूचे विश्व मे—प्राय यह विषमता फैलती जा रही है—गहराती जा रही है।

विषभरी यह विषमता सबसे पहले मानव-हृदय की भीतरी परतो मे घुस कर उसे क्षत-विक्षत बनाती है और हृदय की सौजन्यता तथा शालीनता को नष्ट कर देती है। जो हृदय समता की रसधारा मे समरस बन कर न केवल अपने भीतर बल्कि बाहर भी सब ठौर आनन्द की उमग उत्पन्न कर सकता है, वही हृदय विषमता की आग मे जल कर स्वय तो काला कलूटा बनता ही है, किन्तु उस कालिमा को बाह्य वातावरण मे भी चारो ओर विस्तारित कर देता है।

विचार सर्वप्रथम हृदय-तल से ही फूटता है और इस प्रस्फुटन का रूप वैसा ही होता है, जैसा कि उसे साधन मिलता है। धरती एक सी होती है, बरसात भी एक सी—किन्तु एक ही खेत से अलग-अलग एक ओर यदि गन्ना बोया जाय तथा दूसरी ओर अफीम का पौधा लगाया जाय तो दो विभिन्न पौधो का प्रस्फुटन ऐसा होगा कि एक मिष्ट तो दूसरा विष, एक जीवन का वाहक तो दूसरा मृत्यु का।

इसी प्रकार दो हृदय एक से हो किन्तु एक मे समता का बीज बोया जाय तथा दूसरे मे विषमता का तो दोनो की विचार-सरणि एकदम विरुद्ध होगी। समता का विचार जहा जीवन का आह्वान करता है, वहाँ विषमता-जन्य विचार मृत्यु को बुलाता है।

विचार प्रकट होता है वाणी के माध्यम से, और विषम विचार वाणी को भी विषम बना देता है एव कार्य मे भी वैसी ही छाप छोडता है।

फैलाव व्यक्ति से विश्व तक

यह विपमता इस तरह व्यक्ति के हृदय मे पोषण प्राप्त करके जब बाहर फूटती है तो उसका सबसे पहला आक्रमण परिवार पर होता है, क्योकि परिवार ही आधारगत घटक है। परिवार मे जो रक्त-प्रभाव का सहज स्नेह होता है, वह भी विषम विचारो एव वृत्तियो मे पडकर विपाक्त बन जाता है।

आज के पारिवारिक वैपम्य पर दृग्पात करें तो मन विस्मय एव विक्षोभ मे भर उठेगा। विस्मय इसलिये कि आज का मानव अपने आप को बुद्धिजीवियो का अग्रणी कहता है—उसे इस बात का गर्व है कि हमने बौद्धिकता के क्षेत्र मे बहुत विकास किया है, किन्तु एक छोटे से पारिवारिक घटक को वह समन्वय, स्नेह, सद्भाव की बौद्धिकता नही दे सकता है।

आज के पारिवारिक घटको की नीव प्राय वैपम्य जन्य ही बन गई है। परिवार के प्रत्येक नवागन्तुक सदस्य बालक-बालिका को विरासत मे प्राय. वे सस्कार प्राप्त होते है जो विपमता से अनुपोषित होते हैं। यह चिन्तनीय है कि जिस वृक्ष का बीज कडवा हो उसका फल मधुर कैसे हो सकता है? जिस परिवार के आधार घटक विपमता पूर्ण सस्कारो से अनुपोपित हो उन परिवारो मे समता सृजन की कल्पना कैसे की जा सकती है? आज परिवार-गत विपमता की अमरबेल जिस गति से बढ रही है वह निश्चित ही विश्व के समक्ष एक प्रश्न वाचक चिह्न के रूप मे समुपस्थित है।

परिवार की सहृदयता एव स्नेहिल वृत्ति को लूटती हुई विपमता जब आगे फैलती है तो वह समाज, राष्ट्र और विश्व के विभिन्न क्षेत्रो मे भेद-भाव व पक्षपात की असख्य दीवारें खडी कर देती है, तो पग-पग पर पतन की खाइयाँ खोद देती है। जिन क्षेत्रों से वास्तव मे दुर्बलता के क्षणो मे मनुष्य को सम्हलने और उठने का सहारा मिलना चाहिये, वे ही क्षेत्र आज उसकी अपनी ही लगाई हुई आग मे जलते हुए उसकी जलन मे वृद्धि ही कर रहे हैं।

सहकार के सूत्र मे अतीत से बधे हुए भारत पर ही यदि दृष्टिपात करें तो क्या यह स्पष्ट नही होगा कि ज्यो ज्यो सब ओर विषमता पसरती जा रही है त्यो-त्यो सस्कार की कडियाँ ही नही टूट रही हैं बल्कि मानवीय सद्गुणो

का शनै शनै ह्रास भी होता चला जा रहा है। विषमता के वशीभूत होकर क्या आज सामान्यतया भारतीय जन हृदयहीन, गुणहीन और कर्त्तव्यहीन नही होता जा रहा है ?

जहाँ विभिन्न राष्ट्र विषमता के जाल मे ग्रस्त होकर अपने स्वार्थों को अन्तर्राष्ट्रीय हित से ऊपर उठाते जा रहे हैं, तो उसका स्वाभाविक परिणाम सबके सामने है।

और नित प्रति प्रकट होने वाले परिणामो से स्पष्ट रूप मे जाना जा सकता है कि व्यक्ति से लेकर विश्व तक समूचे रूप मे प्राय यह विषमता फैली हुई है। इसने विश्व के कोने-कोने मे आत्मीयता का मरण घटा बजा दिया है।

आज ससार दो शक्ति गुटो मे विभाजित है और तीसरे गुट के नाम से जो तटस्थ राष्ट्रो का अपना समूह है, वह भी वास्तव मे प्रच्छन्न रूप से एक या दूसरे शक्ति गुट से सम्बद्ध है। इन दोनो शक्ति गुटो के बीच अपना प्रभाव क्षेत्र बढाने की होड मची हुई है जिसे सफल बनाने का प्रभावशाली साधन वे यह मानते है कि घातक परमाणु शस्त्रास्त्रो का अम्बार खडा किया जाय बल्कि नित नया तकनीक विकसित किया जाता रहे जो उन्हे एक दूसरे से ऊपर शक्तिशाली बना सके।

सहारक शस्त्रास्त्रो की यह शक्ति पशुता की शक्ति ही कहलायगी और जब सम्पूर्ण ससार की सस्कृति और सभ्यता को राष्ट्रीय स्वार्थों की विषमता की कटीली झाडियो मे उलझा देने की कुचेष्टाएँ बलवती बन जाय तो वहाँ मनुष्यता के मूल्य और मानदड अवश्य ही गिरते चले जायेंगे। तब मनुष्य अपनी मर्यादाओ को कुचलता हुआ आपाधापी की पशुता से क्रूर बनकर अपने दुर्बल और विवश साथियो को युद्ध की विभीषिका मे धकेल देगा। युद्ध और विनाश—यह विश्वगत विषमता का हृदय विदारक परिणाम दिखाई देगा।

मनुष्य को पहले अपने से आरम्भ करके मनुष्यता की विमल धारा प्रवाहित करनी है, क्योकि उसके बाद ही देवत्व की दिव्यता की दिशा में पग बढाये जा सकते है, किन्तु वर्तमान विश्व की परिस्थितियाँ मनुष्य को विपरीत दिशा मे घसीटे लिये जा रही हैं, जिसे विषमता की 'अति' कह सकते है। इस 'अति' के घातक परिणाम प्रकट होते रहते हैं।

बहुरूपी विषमता

जितने क्षेत्र—उससे कई गुनी भेद की दीवारें—इस विषमता के कितने रूप हैं—यह जानना भी आसान नही है ।

राजनीति के क्षेत्र मे नजर फैलावें, तो लगता है कि सैकडो वर्षों के कठिन सघर्ष के वाद मनुष्य ने लोकतन्त्र के रूप मे समानता के कुछ सूत्र वटोरे, किन्तु विषमता के पुजारियो ने मत जैसे समानाधिकार के पवित्र प्रतीक को भी ऐसे कुटिल व्यवसाय का साधन बना दिया है कि प्राप्त राजनीतिक समानता भी जैसे निरर्थक होती जा रही है। वैसे मत का समानाधिकार साधारण उपलब्धि नही है, इससे स्वस्थ परिवर्तन का चक्र घुमाया जा सकता है। किन्तु आज यही चक्र किस दिशा मे घुमाया गया और किस तरह घूम रहा है—यह सर्वविदित है।

विषमता के पक मे से राजनीति का उद्धार तो नही हुआ सो न सही किन्तु वह तो जब इस दल-दल मे गहरी डूबती जा रही है, तब आर्थिक क्षेत्र मे समता लाने के सशक्त प्रयास किये जा सकें—यह और भी अधिक कठिन हो गया है। राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत मे आर्थिक प्रगति के सारे दावो के वावजूद इस क्षेत्र की विषमता वेहद बढी है। एक ओर भव्य भवनो मे ऐश्वर्य तथा विलास के झूलो मे झूलते—इठलाते हुए अति अल्पसख्यक नागरिक तो दूसरी ओर जीवन के आधार-भूत आवश्यक पदार्थों—साधारण भोजन, वस्त्र एव निवास से भी वचित कठिनाइयो एव कष्टो मे जर्जर बने करोडो नर-ककालो का विवश और असहाय समूह। यह कैसी दर्दनाक विषमता है?

आर्थिक विषमता की विषमतम स्थितियो मे भूलते-भटकते समाज मे कहां खोजें मनुष्यता की मृदुल भावना को, कहां करें सौम्य एव सरलता से परिपूरित समता के दर्शन? जो सम्पन्न वर्ग है, उसमे जागृति लाना और सेवा की भावना भरना कठिन लगता है, क्योकि जो सम्पन्नता उसे किसी भी आधार पर प्राप्त हुई है, उसके आनन्दोपभोग से वह अपने आपको क्यो विलग करे? भोगग्रस्त उसकी चेतना शिथिल और श्लथ हो रही है।

वस्तुत आर्थिक विषमता समाज के सभी वर्गों—सम्पन्न तथा अभावग्रस्त दोनो वर्गों मे भोग लिप्तता एव विलासिता का माया जाल रचती है। अनीति से उपार्जित अर्थ से जब सम्पन्नता अपना मस्तिष्क ऊपर उठाती है तो इस मस्तिष्क मे अभिमान और दम्भ ही ऊपर होता है जो उसे अभावग्रस्तता से कभी मिलने नही देती। अभावग्रस्तता सम्पन्नता के वैभव तथा उसके मुक्त उपभोग से बुरी तरह ललचाती है तो अन्त मे जाकर वह भी अनीति की ही राह को पकड लेती है कि अधिक से अधिक धन चाहे जैसे प्राप्त किया जाय और सम्पन्नता के समीप पहुँचा जाय। तब शुरू होती है धन पाने की अन्धी दौड—जो आज हमारे देश मे भी चेतना शून्य बनकर बुरी तरह से चल रही दिखाई देती है।

जीवन विकास के सारे लक्ष्य भुला दिये गये है, आध्यात्मिकता और आदर्श प्राय वाणी विलास के साधन बना दिये गये हैं और मानवीय सद्गुणो की आभा विरल हो गई है। सब कुछ भूलकर और पागल सा बनकर आज का मानव धन के पीछे और वह भी बिना परिश्रम से प्राप्त होने वाले धन के पीछे दौड रहा है। धन उसके इस दुर्लभ जीवन का जैसे एक मात्र प्राप्य बन गया है। यही कारण है कि भ्रष्टाचार समाज एव व्यक्ति के जीवन की रग-रग मे पसरता जा रहा है तो रिश्वतखोरी, कालाबाजारी, तस्करी और अपराध वृत्ति मे डूबते जाकर भी आज के मानव को लज्जा की अनुभूति नही है। नम्बर दो की आमदनी की रखैल ही आज के बिगडे हुए आदमी का शृंगार बन रही है। यही धन लिप्सा विश्व-मानव को अपने कुप्रभाव से कलकित करती हुई बहुरूपी विषमता की जननी बन गई है, तो सभी क्षेत्रो मे विकारो के कीटाणु फैला रही है।

आध्यात्मिक क्षेत्र भी अछूता नहीं

दूसरी ओर दलन, दमन, शोषण और उत्पीड़न की कठिन चोटो को झेलता हुआ मायूस इन्सान विवशता के भार से दबता हुआ प्रतिपल अपनी स्वस्थ चेतना को खोता हुआ चला जा रहा है, जडत्व मे ढलता जा रहा है, तो क्या उसके कुप्रभाव से धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र भी अछूते रह सकेंगे? आत्मविस्मृति से आत्मानुभूति की जागृति क्या कठिनतम नही बन जायगी?

सम्पन्न वर्ग का चैतन्य जड के सम्पर्क मे जड हुआ जा रहा है तो अभाव-ग्रस्त वर्ग का चैतन्य जड के अभाव मे जड हुआ जा रहा है—यह कैसी परिणति है ? जड का मादक असर जितना बढता है, दुर्गुणो की ग्रस्तता उतनी ही अधिक फैलती है और इसी परिमाण मे चेतना-शक्ति दुर्बल होती चली जाती है । चेतनाहीनता याने सुपुप्तता और सुपुप्तता याने जागृति का अभाव—फिर भला ऐसे समाज मे जन्मे व्यक्ति धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र मे पहुच कर भी कितनी अपनी और कितनी दूसरो की जागृति साध सकेंगे ?

"काजर की कोठरी मे कैसे हू सयानो जाय, काजर की एक लीक लागि है पे लागि है" के अनुसार जब अधिक मे अधिक व्यक्ति धन लिप्सा जन्य विकारो को फैलाने तथा काजल की कालिख को विखेरने मे लगे हुए हो तो वह कालिख सब दूर फैलती रहने से कैसे रुक सकेगी ? फिर रोकने वाले प्रवुद्ध जनो की सख्या तो अत्यल्प होती है जो स्वय अपनी मोहग्रस्तता को सयमित बनाते हैं तो दूसरो की मोहग्रस्तता को मिटाने का पुरुपार्थ भी करते हैं। ऐसे जागे हुए लोगो को भी आखिर तो उसी जमीन पर चलना पडता है जो कालिख से पुती हुई है। इस कारण कालिख की एक लकीर भी लगे लेकिन वहुत आशका रहती है कि वैसे लोग भी कही न कही कालिख से पुत जाय। दूसरे, कालिख से पुते लोगो से उन्हे सघर्ष भी झेलना पडता है, जो उनके 'कालिख साफ, करो' अभियान को भीतरी मन से कतई पसन्द नही करते । इन वाधाओ को जीतते हुए जो मनस्वी आगे वढते है, वे ही जन-जन के बीच आध्यात्मिकता का अलख जगा सकते हैं।

ऐसे आत्मजयी पुरुपो के पुरुपार्थ का ही प्रमुख आधार रहता है कि विपमता की कुटिल गाठें खोली जाय और समता की समरस धारा जन-मन मे उतारी जाय । विपमता की कालिख ज्यो-ज्यो धुलती जायगी, त्यो-त्यो कर्म वन्धन भी ढीले पडते जायेंगे । मोह हटेगा तो सामजस्य वढेगा, राग कटेगा तो विराग फैलेगा एव विपमता मिटेगी तभी समता की सहृदयता प्रखर वनेगी । यही धरातल होगा जिस पर आध्यात्मिकता अविचल रूप से खडी हो सकेगी । अन्तर्मन की उज्ज्वलता ही भीतर-वाहर के समग्र स्वरूप को धवल वना सकेगी ।

त्रिधर्मी विषमता

आज विषमता मनुष्य के मन की गहराइयो के भीतर पैठ कर भीतर ही भीतर समाती जा रही है। निश्छल मन छल के तारो मे उलझता-फसता जा रहा है। अन्तर सोचता कुछ है, किन्तु उसका प्रकटीकरण किसी अन्य रूप मे ही होता है। यह द्वैतभरा व्यवहार मनुष्य को सत्य से विमुख बनाता जा रहा है। जहाँ छल आ गया हो तो वहा सत्य रहेगा ही कहाँ ? यदि सत्य नही तो स्वपर का शिव कहाँ और आत्मा की सुन्दरता कहाँ ? श्रीगणेश ही विपरीत है तो प्रगति की कल्पना ही कैसे की जा सकती है ?

विगति की ओर अवश्य ही मनुष्य औधा मुँह किये भाग रहा है—सबसे पहले और मूल मे मन को विगाड कर। ऐसा मतलबखोर मन मनुष्यता की जडो पर ही जब कुठाराघात कर देता है तो स्वस्थ विचारो की उत्पत्ति ही दुस्साध्य बन जाती है। स्वार्थ के घेरे मे जो विचार जन्म लेते हैं, वे उदार और त्यागमय नही होते और त्याग के बिना मन अपने मूल निर्मल स्वरूप की ऊँचाइयो मे ऊपर कैसे उठ सकता है ?

श्रीगणेश ही जहा विषमता के कुप्रभाव से विकृत भूमिका पर हो रहा हो, वहा भला आगे का विकास सुप्रभावी एव कल्याणकारी बने—इसकी आशा दुराशा मात्र ही सिद्ध होगी। जब त्यागहीन विचार वाणी मे प्रकट होगा तो वह वाणी भी त्याग की प्रेरणा कैसे दे सकेगी ? कुटिलता की ग्रन्थियो मे गुथी हुई वह वाणी जिस कर्म को जन्म देगी, वह कर्म मनुष्य को स्वार्थ और भोग के कीचड मे गहरे धसाने वाला ही तो हो सकता है।

आज विषमता मनुष्य के मन की गहराइयो मे समा रही है, वाणी के छल मे फूट रही है और कर्म की प्रवचनाओ मे प्रलय ढा रही है। प्रश्न है और घहराता-गूंजता हुआ प्रश्न है कि क्या होगा मनुष्य के मन, वचन और कर्म की त्रिधर्मी गति का, समाज, राष्ट्र और विश्व की प्रगति का तथा अन्तरात्मा की प्रतीति का ?

विज्ञान का विकास और विषमता

यह कहना सर्वथा उचित ही होगा कि अनियन्त्रित विज्ञान के विकास ने मानव जीवन को असन्तुलित बना दिया है और यह असन्तुलन नितप्रति

विषमता को बढाता जा रहा है। विज्ञान जहाँ वास्तव मे निर्माण का साधन बनना चाहिये, वहा वह उसके दुरुपयोग से विनाश और महाविनाश का साधन बनता जा रहा है।

विज्ञान तो विशेष ज्ञान का नाम है और भला स्वय ज्ञान और विज्ञान विनाशकारी कैसे बन सकता है ? उसे विनाशकारी बनाने वाला है उसका अनियन्त्रण अथवा दुष्प्रवृत्तियो के बीच सरक्षण। उस्तरे से हजामत बनाई जाती है, मगर वही अगर बन्दर के हाथ मे पड जाय तो वह उससे किसी का गला भी काट सकता है।

विषमताजन्य समाज मे विज्ञान का जितना विकास हुआ है, वह प्राय बन्दरस्वभावी लोगो के हाथ मे पडता रहा है। आखिर विज्ञान एक शक्ति है, इसके नये-नये अन्वेषण और अनुसन्धान शक्ति के नये-नये स्रोतो को प्रकट करते हैं। ये ही स्रोत अगर सदाशयी और त्यागी लोगो के नियन्त्रण मे आ जाते हैं तो उनसे समता की ओर गति की जाकर सामूहिक कल्याण की साधना की जा सकती है। परन्तु आज यह शक्ति स्वार्थ और भोग लिप्साओ के हाथो मे है, जिसका परिणाम है कि ये तत्व अधिक से अधिक शक्तिशाली होकर इस शक्ति का अपनी सत्ता और अपना वर्चस्व बढाने मे प्रयोग कर रहे हैं।

शक्ति स्रोतो का असन्तुलन

वैज्ञानिक शक्तियो का यह दुरुपयोग, प्राय सभी क्षेत्रो मे निरन्तर विषमता मे वृद्धि करता जा रहा है। हमारी सस्कृति का जो मूलाधार गुण और कर्म पर टिकाया गया था, वह इस असन्तुलित वातावरण के बीच उखडता जा रहा है। शक्ति-स्रोतो के इस असन्तुलन का सीधा प्रभाव यह दिखाई दे रहा है कि योग्य को योग्य नही मिलता और अयोग्य सारा योग्य हडप जाता है। योग्य हताश होकर निष्क्रिय होता जा रहा है और अयोग्य अपनी अयोग्यता का ताण्डव नृत्य कर रहा है।

शक्ति स्रोतो को सन्तुलित रखने वाला मुख्य तत्व ही गुणानुसार कर्म का विभाजन होता है और जब उपलब्धियो का विभाजन लूट के आधार पर होने लगे तो लुटेरा ही लूट सकेगा, साहूकार को तो मुह की खानी ही पडेगी।

लुटेरा बेझिझक होकर लूटता रहेगा तो निश्चित रूप से शक्तिया अधिक से अधिक असन्तुलित होती जायगी। अधिक से अधिक शक्ति कम से कम हाथो मे इकट्ठी होती जायगी और वे कम से कम हाथ भी खून और कत्ल करने वाले हाथ होगे। दूसरी ओर बडी से बडी सख्या मे लोग शक्तिहीन होकर नैतिकता के अपने साधारण धरातल से भी गिरने लगते है। क्या आज समाज भौतिकता की ऐसी ही दुर्दशाग्रस्त स्थिति मे जकडा हुआ नही है?

विलास और विनाश की विषमता

ससार की वाह्य परिस्थितियो मे विलास और विनाश की विपमता आज पतन के दो अलग-अलग कगारो पर खडी हुई है। विलास की कगार पर खडा इन्सान अट्टहास कर रहा है तो विनाश की कगार पर खडा इन्सान इतना व्यथाग्रस्त है कि दोनो को यह भान नही है कि वे किसी भी क्षण पतन की खाई मे गिर सकते है।

एक विहगावलोकन करे इस विपम दृश्य पर कि स्वार्थ और भोग की लिप्सा के पीछे पागलपन किस सीमा तक वढता जा रहा है? भारतीय दर्शन शास्त्रो ने तृष्णा को वैतरणी नदी कहा है, ऐसी नदी जिसका कही अन्त नही। तैरते जाइये, तैरते जाइये—न कूल, न किनारा। एक पश्चिमी दार्शनिक ने भी इसी दृष्टि से मनुष्य को उसकी स्वार्थ वृत्ति के कारण भेडिया कहा है। यह वृत्ति जितनी अनियन्त्रित होती है, उतनी ही यह विशालरूपी होती हुई अधिकाधिक भयावह होती जाती है।

वर्तमन युग मे सन्तोष की सीमाए टूट गई हैं और वितृष्णा व्यापक हो रही है। जिसके पाम कुछ नही है—वह आवश्यकता के मारे कुछ पाना चाहता है, लेकिन जिसके पास काफी कुछ है, वह भी और अधिक पा लेने के लिये और पाते रहने के लिये पागल बना हुआ है। जितना वह पाता है, उसकी तृष्णा उससे कई गुनी अधिक वढती जाती है और फिर सारे कर्त्तव्यो को भूल कर वह और अधिक पाना चाहता है। सिर्फ स्वय के लिये वह पाता रहता है या यो कहे कि वह लूटता रहता है तो एक शक्तिशाली की लूट का असर हजारो के अभावो मे फूटता है। विषमता की दूरिया इसी तरह आज तीखी वनती जा रही हैं।

आज आम आदमी धन की लिप्सा मे पागल है, सत्ता की लिप्सा मे मत्त वन रहा है तो यश और झूठे यश की लिप्सा मे अपने अन्तर को कालिमामय वनाता जा रहा है। सभी जगह सिर्फ अपने लिये वह लेना ही लेना सीख गया है—भोग उसका प्रधान धर्म वन गया है, त्याग से उसकी निष्ठा उठती जा रही है और यही सारी विपमता का मूल है। आज का व्यापार और व्यवसाय इसी कारण नैतिकता की लीक से हटकर शोपण एव उत्पीडन का साधन वनता जा रहा है। धन कम हाथो मे अधिक और अधिक हाथो मे कम से कम होता जा रहा है। इसका नतीजा है कि कुछ सम्पन्न लोग विलास की कगार पर इठलाते हैं तो अधिकसख्य जन अपनी प्रतिभा, अपनी गुणशीलता और अपने सामान्य विकास की वलि चढाकर विनाश की कगार पर खडे हैं।

धन लिप्सा सत्ता लिप्सा मे वदल कर और अधिक आक्रामक वन रही है। आखें मूदकर सत्ता लिप्सा अपना अणुवम इस तरह गिराती है कि वहाँ दोपी और निर्दोष के विनाश मे भी कोई भेद नही। सत्तालिप्सु एक तरह से राक्षस हो जाता है कि उसे अपनी कुर्सी से मतलव—फिर दूसरो का कितना अहित होता है—यह सव उसके लिये वेमतलव रह जाता है। यश-लिप्सा इस परिप्रेक्ष्य मे और अधिक भयानक हो जाती है। ये लिप्सायें ही वडा रूप धारण करती हुई आज ससार को विपमतम वनाए हुए हैं।

विषमता : दुर्गुणो की जननी

मानव समाज मे जितने घातक मे घातक दुर्गुण दिखाई देते हैं—यदि आप उनकी जडो को खोजने जायेंगे तो वे आपको समग्र रूप से विषमता के विप वृक्ष मे मिल जायगी। यह विपमता कुछ व्यक्तियो के कुप्रयास से वनती और वढती है, लेकिन इसके कुप्रभाव से सामूहिक विगति आरम्भ होती है और यह इतनी तेज गति से चलती है कि इसके चक्र मे दोपी और निर्दोष समान रूप से पिसते चले जाते हैं।

यह पिसना दुतरफा होता है। व्यक्ति अपने अन्तर के जगत् मे भी पिसता है तो वाहर की दुनिया मे भी पिसता है और यहाँ आकर एक प्रकार से भौतिकता एव आध्यात्मिकता का विभेद कटुतम वन जाता है जवकि सामान्य

अवस्था मे दोनो के सम्यक् सन्तुलन से स्वस्थ प्रगति सम्पादित की जा सकती है। बाहर की दुनिया मे पिसता हुआ इन्सान विषमता के जहर को पीकर स्वय भी अधिकतर कटु और कुटिल होने लगता है। इस आपाधापी की दौड मे जो पाता है वह भी विगडता है और जो नहीं पाता है, वह भी विगडता है।

अन्तर मे सम्बन्धित यह विगाड इस तरह विपमता के कारण विस्तार वढाता ही जाता है। इसके विस्तार का अर्थ है—सद्गुणो की एक-एक करके समाप्ति। विषमता से अधिकाधिक विपम वन कर जब इन्सान भौतिकता को पाने के लिये वेतहाशा भागता है तो भौतिक उपलब्धियाँ उसे मिलें या नही — यह दूसरी वात है लेकिन वह उस भागदौड और भगदड़ मे दुर्गुणो का सचय तो अवश्य ही कर लेता है। दुर्गुण अकेला नही आता—एक के साथ एक और एक के वाद एक—इस तरह इस गति से मनुष्यता पशुता और पैशाचिकता मे ढलती जाती है। यही कारण है कि दुर्गुणो की जननी विपमता को माना जा सकता है।

विषमता का मूल कहाँ ?

सारभूत एक वाक्य में कहा जाय तो इस सर्वव्यापिनी पिशाचिनी विपमता का मूल मनुष्य की मनोवृत्ति मे है। जैसे हजारो गज भूमि पर फैले एक वट वृक्ष का वीज राई जितना ही होता है, उसी प्रकार इस विषमता का वीज भी छोटा ही है, किन्तु है सशक्त। मनुष्य की मनोवृत्ति मे जन्मा और पनपा यह वीज वाह्य और आन्तरिक जगत् मे वट वृक्ष की तरह प्रस्फुटित होकर फैलता है और हर क्षेत्र मे अपनी विपमता की शाखाएँ एव उपशाखाएँ विस्तारित करता है।

इसके मूल के क्षेत्र को और भी छोटा किया जा सकता है। अधिक सूक्ष्मता से मनोवृत्तियो का अध्ययन किया जायगा तो स्पष्ट होगा कि इस भयाविनी विषमता का वीज केवल मनुष्य की भोग मनोवृत्ति मे रहा हुआ है। भोग स्वय के लिये ही होता है इसलिये भोग-वृत्ति स्वार्थ को जन्म देती है। स्वार्थ का स्वभाव संकुचित होता है। वह सदा छोटा से छोटा होता जाता है, उसका दायरा वरावर घटता ही जाता है। जितना यह दायरा घटता है, उतनी ही मनुष्यता वौनी होती है — पशुता वडी वनती जाती है।

भोगवृत्ति की तुष्टि का प्रधान आधार है परिग्रह—अपने द्रव्य अर्थ मे भी और अपने भाव अर्थ मे भी।

परिग्रह का जीवन पर प्रभाव

अपने द्रव्य अर्थ मे परिग्रह का अर्थ है धन सम्पदा। निश्चय ही सासारिक जीवन धनाभाव मे नही चल सकता है। जीवन-निर्वाह की मूल आवश्यकताएँ है—भोजन, वस्त्र एव निवास—जिनका सचालन धन पर ही आधारित है। इस लिये इस तथ्य को स्वीकारना पडेगा कि धन का ससारी जीवन पर अमित प्रभाव ही नही है, बल्कि वह उसके लिये अनिवार्य है।

अनिवार्य का अर्थ है धन के बिना इस सशरीरी जीवन को चलाना सभव नही, तो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ऐसे अनिवार्य पदार्थ की साधारण रूप से उपेक्षा नही की जा सकती है। किसी भी दर्शन ने इसकी उपेक्षा की भी नहीं है। जो ज्ञान का प्रकाश फैलाया गया है, वह इस दिशा मे कि धन को आवश्यक बुराई मानकर चला जाय। सन्तोष, सहकार, सहयोग आदि सद्‌गुणो का विकास इसी आधार पर किया गया कि धन का उपयोग करने दें मर्यादाओ के भीतर और उसके दुरुपयोग को न पनपने दें।

दार्शनिको ने धन-लिप्सा के भयावह परिणामो को जाना था—इसी-लिये उन्होने इस पर अधिक से अधिक कडे अकुश लगाने का विधान भी किया। धन का बाहुल्य नैतिक अर्जन से सभव नही बनता। अधिक धन का अर्थ अधिक अन्याय और उसका अर्थ है अधिक कष्ट—इस कारण एक के लिये अधिक धन का साफ अर्थ हुआ बहुतो के लिये अधिक कष्ट। अतः बहुलतया अधिक धन अधिक अनीति से ही अर्जित हो सकता है—यह पहली बात।

भोग, स्वार्थ और विषमता

दूसरे अधिक धन की उपलब्धि का सीधा प्रभाव मनुष्य की भोगवृत्ति के उत्तेजित बनने पर पडता है। भोग अधिक—स्वार्थ अधिक और जितना स्वार्थ अधिक तो उतनी ही विषमता अधिक जटिल बनती जायगी—यह स्वाभाविक प्रक्रिया होती है।

होना यह चाहिये कि जो अधिक सद्‌गुणी हो, वह समाज में अधिक शक्तिशाली हो किन्तु जहाँ धन-लिप्सा अनियन्त्रित छोड दी जाती है, वहाँ अधिक धनी, अधिक शक्तिशाली और अधिक धनी, अधिक सम्माननीय का मापदड बन जाता है। इसी मापदड से विषमता का विषवृक्ष फूटता है।

यथावृत्ति को यथावसर, यथास्थान बनाये रखने मे ही जीवन मे सुव्यवस्था का सूत्रपात होता है। साधु अगर धन रखे तो वह दो कौडी का, परन्तु अगर गृहस्थ के पास धन न हो तो वह दो कौडी का बन जाता है। इसका अर्थ है कि साधना के उच्चतम स्तरो पर तो धन (जड) का सर्वथा त्याग करना ही होगा, लेकिन जिस स्तर पर उसको प्राप्त करना अनिवार्य है, वहाँ उसे नीति से ही प्राप्त किया जाय। और नीति क्या ? जो धन एक गृहस्थ के लिये अनिवार्य है, वही सभी गृहस्थो के लिये अपने जीवन निर्वाह हेतु अनिवार्य है, अत उसकी प्राप्ति उन सभी गृहस्थो के हितो की समान रूप से रक्षा करते हुए ही की जाय—यही नीति है। यही मूर्छा की अल्पता है।

एक उदाहरण से इसे समझें। गृहस्थो को साधु की तरह नगे पैरो से चलने का अभ्यास नही होता है इसी कारण वे जूतो का इस्तेमाल करते हैं ताकि ककडो, काटो मे भी ठीक से चल सकें। तो जूता पावो मे पहिनना गृहस्थ के लिये अनिवार्य हुआ। जब तक वह जूते को पावो मे पहिनता है, उसके विवेक को कोई चुनौती नही देता, परन्तु यदि वह उसी जूते को पगडी या टोपी की तरह अपने सिर पर धारण कर ले तो उसे और उसके विवेक को क्या कहेगे ? इसी प्रकार जब तक धन का उपयोग निर्ममत्व भाव से गृहस्थ धर्म के सचालन हेतु किया जाता रहेगा तब तक वह धन न विकारवर्धक बनेगा और न ही विषमता प्रसार का मूल। किन्तु जब वह धन पैरो से हटकर सिर पर चढ जाता है तब वह भीतर-बाहर के उत्पातो का जनक बन जाता है। मनुष्य उस धन की लालसाओ मे भटक जाता है और उसे पाकर अपनी मर्यादाओ को भूल जाता है। वही धन उसे अपने कुटिल बधनो मे बाधकर भोग, स्वार्थ तथा विषमता के दलदल मे फैंक देता है।

शक्ति और सम्मान का स्रोत जब गुण न रह कर धन बन जाता है तो सासारिक जीवन मे सभी धन के पीछे दौडना शुरू करते हैं—एक गहरा ममत्व लेकर। समाज का ऐसा मूल्य निर्धारण मनुष्य को विदिशा मे मोड देता

है। तब भोग उसका भगवान् बन जाता है और स्वार्थ उसका परम आराध्य देव— फिर भला उसका विवेक इन घेरो से बाहर कैसे निकले और कैसे समता के स्वस्थ मूल्यो को ग्रहण करे ? जब विवेक सो जाता है तो निर्णय शक्ति उभरती नही। निर्णय नही तो जीवन की दिशा नही—भावना का जगत् तब शून्य होने लगता है। दिशा निर्णय एव स्वस्थ भावना के अभाव मे विषमता ही तो सब ठौर फैलने लगेगी।

परिग्रह का गूढार्थ · मूर्छा

"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो—" यह जैन-सूत्रो की परिग्रह की गूढ व्याख्या है। मूर्छा को परिग्रह कहा गया है। द्रव्य परिग्रह की ओर तब कदम बढते हैं जब पहले भाव परिग्रह जन्म लेता है और यह भाव परिग्रह है—ममत्व और मूर्छा। जब मनुष्य की भावनात्मक जागृति क्षीण बनती है, तो उसी अवस्था को मूर्छा कहते हैं। ममत्व मूर्छा को बढाता है।

यह मेरा है—ऐसा अनुभव कभी अन्तर जगत् के लिये स्फूर्तिजनक नही माना जाता है। क्योकि इसी अनुभाव से स्वार्थ पैदा होता है, जिसकी परिणति व्यापक विषमता मे होती है। यह मेरा है—इसे ही ममत्व कहा गया है। मेरे-तेरे की भावना से ऊपर उठने मे ही जागृति का मूल मत्र समाया हुआ है और इसी भावना की नींव पर त्याग का प्रासाद खडा किया जा सकता है।

इस मूर्छा को मन मे न जन्मने दो, न जमने दो—फिर जिन जीवन मूल्यो का निर्माण होगा, वह त्याग पर आधारित होगा। त्याग का अर्थ है जो अपने पास परिग्रह है उसे भी परोपकार के निमित्त छोड देना बल्कि यो कहे कि अपनी ही आत्मा के उपकार के निमित्त छोड देना। जो छोडना सीख लेता है उसकी तृष्णा कट जाती है और इस तृष्णा को कटने पर विषमता के मूल पर आघात होता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति का भेद

परिग्रह और परिग्रहजन्य मनोवृत्तियो मे भटकना या परिग्रह और उसकी मूर्च्छा तक से निरपेक्ष बन जाना—वास्तव मे यही जीवन का दोराहा है।

एक राह प्रवृत्ति की है, दूसरी राह निवृत्ति की। निवृत्ति और समूची निवृत्ति को सभी नही अपना सकते हैं। समूची निवृत्ति साधु जीवन का अग होती है और अन्तिम रूप से वही ग्राह्य मानी गई है। किन्तु सासारिक जीवन मे न्यूनाधिक प्रवृत्ति के विना काम नहीं चल सकता है। इसलिये वताया गया है कि द्रव्य परिग्रह के अर्जन की पद्धति को आत्म-नियन्त्रित वनाओ।

यह पद्धति जितनी विपमता से दूर हटेगी—जितनी समता के समीप जायगी, उतनी ही सार्वजनिक कल्याण का कारण भी वन सकेगी। इस पद्धति को नियम और सयम के आधार पर ही नियन्त्रित किया जा सकेगा। यह नियम और सयम जितना व्यक्ति स्वेच्छा से ग्रहण करे उतना ही अच्छा है। हाँ, व्यक्ति की अज्ञान अवस्था मे ऐसे नियम और सयम को सामूहिक शक्ति से भी शुरु करके व्यक्ति-जीवन को प्रभावित वनाया जा सकता है।

नियम और सयम की धारा तव ही वहती रह सकेगी जव परिग्रह की मूर्छा समाप्त की जाय। जीवन-निर्वाह के लिये धन चाहिये, वह निरपेक्ष भाव से अर्जित किया जाय और चारो ओर समता के वातावरण की सृष्टि की जाय—तव धन जीवन मे प्राथमिक न रहकर गौण हो जायगा। इसके गौण होते ही गुण ऊपर चढेगा—विपमता कटेगी और समता प्रसारित होगी। नियन्त्रित प्रवृत्ति और निवृत्ति की ओर गति—यह समता जीवन का आधार वन जाएगा।

एक जटिल प्रश्न ?

वर्तमान विषमता की विभीषिका मे यह जटिल प्रश्न पैदा होता है कि क्या व्यक्ति और समाज के जीवन को इस विषमता के चहु मुखी नागपाश से मुक्त बनाया जा सकता है ? क्या समग्र जीवन को न सिर्फ अन्तर्जगत् मे, वल्कि बाहर की दुनिया मे भी समता, सहयोगिता और सदाशयता पर खडा किया जा सकता है ? और क्या उल्लास, उत्साह और उन्नति के द्वार सभी के लिये समान रूप से खोले जा सकते है ?

प्रश्न उत्तर मागता है ?

प्रश्न गहरा है—जटिल भी है किन्तु प्रबुद्ध वर्ग के सद्विवेक पर चोट करने वाला है—काश, इसे वैसी ही गहरी अनुभूति से समझने और अपनी कार्य शक्ति को कर्मठ बनाने का यत्न किया जाय।

यह प्रश्न उत्तर मांगता है—समाधान चाहता है। यह माग गूंजती है—उत्तर दीजिये, समाधान कीजिये अथवा अपने और अपने समस्त सगठनो के भविष्य का खतरे मे टालने के लिये तैयार हो जाइये।

इस गूंज को सुनिये और उत्तर तथा समाधान खोजिये। प्रश्न विपमता का है—उत्तर समता मे निहित है।

:२:

जीवन की कसौटी और समता का मूल्यांकन

चेतना और जड—इन दो तत्वो के मिलन का नाम ससार है। आत्मा का स्वरूप ज्ञानमय चेतना माना है, जो चेतना अनादि से जड शरीर के साथ सयुक्त है, वही इस चराचर जगत् की रचना का मूल बनती है और जब साकार से हट कर निराकार आत्मा सदा के लिये परम शुद्ध बन जाती है उसे ही मोक्ष कहा है।

सामान्य रूप मे जीवन से उसी अवस्था का अभिप्राय लिया जाता है जो इस ससार मे जिया जाता है। सभी प्राणियो मे मानव-जीवन की उत्कृष्टता इसी कारण बताई गई है कि उत्थान दिशा का समीकरण इसी जीवन मे मुख्य रूप से बनता है। इसी हेतु से जगत मे इस जीवन के महत्त्व, एक जीवन से दूसरे जीवन के सम्बन्ध तथा समुच्चय रूप से जगत् और जीवन के विविध सम्बन्धो का विश्लेषण इस उद्देश्य से किया जाना चाहिये कि यह ससार और यह मानव जीवन परस्पर समन्वित स्थिति मे ही नही चले, बल्कि एक दूसरे के सम्यक् विकास का भी कारण बन सके।

जागतिक जीवन के विभिन्न पहलू

यह सभी जानते हैं कि चाहे आदमी का बच्चा हो अथवा जानवर का—जन्म के समय वह निरीह और असहाय होता है। सच पूछा जाय तो जगत् मे जीवन स्नेह और सहायता के पहले चरण से ही आरम्भ होता है। यह शुभारम्भ यदि बाद मे अन्त तक अखडित रूप मे चलता रहे तो इसमे कोई सन्देह नही कि परिवार समाज, राष्ट्र और विश्व का समग्र प्राणी-जीवन

स्नेह और सहायता की भावना के साथ समता की निर्मलता मे ढलता हुआ प्रगतिशील बन सकता है और यही निर्मलता प्रत्येक आत्मा के मूल स्वरूप को भी उजागर बना सकती है।

किन्तु विडम्बना वर्तमान मे व्यक्ति एव समाज के सम्बन्धो की इस रूप मे है कि यह पहला चरण धीरे-धीरे विकृत होता चला जाता है और स्वार्थ व असहयोग की जडता फैलती जाती है। जितनी अधिक जडता, उतनी ही अधिक असमता या विषमता और इस फैलती हुई विषमता से सघर्ष करना ही चेतनाशील जीवन का पहला कर्त्तव्य बनना चाहिये। जागतिक जीवन के विभिन्न पहलुओ को इसी सदर्भ मे देखने, उसे परिवर्तित एव विकसित करने एव सर्वत्र समतामय स्थितियो की सृष्टि करने की आज सर्वोच्च आवश्यकता है।

चेतन और जड़ का दर्शन

दार्शनिक दृष्टि से चेतन जब जड के शासन मे होता है तो यह उसकी पतन दशा मानी जाती है। ससार मे धन, सम्पत्ति, पौद्गलिक सुख व सत्ता-साधनो एव स्वय शरीर को भी जड माना गया है। चेतन तत्त्व जब इस जड तत्त्व के ससर्ग मे आता है तब चेतन के लिये यही आदर्श होता है कि वह जड के ससर्ग से अपनी चेतना को जडता मे न ढाले। इसीलिये जीवन का पवित्र लक्ष्य यह माना गया है कि जड के साथ रहते हुए भी चेतन अपने स्वामी-स्वभाव को न भूले, जड को अपने शासन मे रखे और अन्त मे उससे सर्वथा विलग हो जाय।

इस दर्शन की तब परिणति यह होगी कि चेतन अपने ज्ञान की ज्योति को प्रदीप्त रखते हुए जड पदार्थो पर अपना नियन्त्रण एव सन्तुलन रखेगा और इसका सीधा प्रभाव यह होगा कि चेतन की हार्दिकता एव सहानुभूति चेतन के साथ होगी—जड तो जीवन सचालन का निमित्त मात्र बना रहेगा। जीवन मे जहाँ जड के प्रति ममत्व ही नही बनेगा तो फिर विषमता के जन्म लेने का सूत्र ही कहाँ उत्पन्न होगा?

आत्म विस्मृति ही इस दृष्टि से विषमता की विडम्बना की जननी है। अपने को जब भूलने हैं तो अपने जानने, मानने और करने की क्षमता को भी

भूलते हैं और इसी भूल का अर्थ है जीवन में सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की क्षति। सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य का जीवन में जब तक आविर्भाव नहीं होता तब तक विकास का मूल भी हाथ नहीं आता है। इसलिये अपने आपको समझें—अपने जीवन के मर्म को जानें—इस ओर पहले रुचि जागनी चाहिये।

मूल प्रश्न—जीवन क्या है ?

इस दिशा में विशिष्ट सत्यानुभूति के आधार से यह नवीन सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है कि—

"किं जीवनम् ?
सम्यक् निर्णायकं समतामयञ्च यत्
तज्जीवनम्।"

जीवन क्या है ? प्रश्न उठाया गया है और उसका उत्तर भी इसी सूत्र में दिया गया है कि जो जीवन सम्यक्, निर्णायक और समतामय है, वास्तव में वही जीवन है।

जो जिया जाता है, वह जीवन है—यह तो जीवन की स्थूल परिभाषा है। एक आदमी को बोरे में बांध कर पहाड़ की चोटी से नीचे लुढ़का दिया जाय तो वह बोरा ढलान से लुढ़कता हुआ नीचे आ जाय—यह भी एक तरह से चलना ही हुआ। वहाँ दूसरा आदमी अपने नपे-तुले कदमों से—अपनी सजग दृष्टि से चल कर उतरे—उसे भी तो चलना ही कहेंगे। तो दोनों तरह के चलने में फर्क क्या हुआ ? एक चलाया जाता है दूसरा चलता है। चलाया जाना जड़त्व है, तो चलना चैतन्य। अब दोनों के परिणाम भी देखिये। जो बोरे में बंधा लुढ़क कर चलता है, वह लहूलुहान हो जायगा—चट्टानों के आघात-प्रतिघातों से वह अपनी संज्ञा भी खो बैठेगा और संभव है कि फिर लम्बे अर्से तक वह चल सकने के काबिल भी न रहे। तो जो केवल जिया जाता है, उसे केवल जड़तापूर्ण जीवन ही कहा जा सकता है।

सार्थक जीवन वह है जो स्वयं चले—स्वस्थ एवं सुदृढ़ गति से चले बल्कि अपने चलने के साथ अन्य दुर्बल जीवनों में भी प्रगति का बल भरता हुआ चले।

सम्यक् निर्णायक जीवन

जीवन की परिभापा के अन्तर्गत निर्णायक शब्द अपेक्षा से विशेष्य के रूप मे लिखा जा सकता है। इसकी व्याख्या यदि हमारी समझ मे आ गई तो हम इस शब्द के साथ लगने वाले सम्यक् विशेपण को भी अच्छी तरह समझ सकते हैं। वह निर्णायक शक्ति प्रत्येक जीवन मे विद्यमान है और आत्मिक जागृति के परिमाण मे यह शक्ति भी विकसित होती रहती है। निश्चय ही मानव जीवन मे निर्णायक शक्ति अधिकतर मात्रा मे हो सकती है वशर्ते कि उस शक्ति को जगाकर उसे सही दिशा मे कार्यरत बनाया जाय।

आज निर्णायक शक्ति के कार्य को देखा जा रहा है, लेकिन कर्त्ता का अवलोकन नही किया जा रहा है। फव्वारे छूट रहे है, फव्वारो को आप देखते हैं किन्तु इसे समझने का यत्न नही करते कि इन फव्वारो को कौन छोड रहा है? मोटरकार भाग रही है और किसी मनुष्य की दृष्टि उस पर लगी हुई है। वह कार बहुत तेज गति से जा रही है लेकिन कार चलाने वाले को दौडते हुए आप नही देखते। वह तो दौडता नही है, अन्दर बैठा रहता है। भीतर बैठ कर भी वह जिस तीव्र गति से कार को दौडाता है, बताइये, वह चलाने वाले की कौन सी शक्ति है?

यह शक्ति, ज्ञान या विज्ञान निर्णायक बुद्धि मे ही तो रहा हुआ है। अपने इस जीवन को कार की उपमा मे मान ले—फिर तुलनात्मक दृष्टि से देखें कि अगर कार चलाने वाला क्षण भर के लिये भी निर्णायक बुद्धि को खो बैठे कि कब और कैसे कार को किधर मोडनी है तो कल्पना करें कि क्या अनर्थ हो सकता है? वह स्वय को या दूसरो को मार सकता है या दूसरी हानि कर सकता है।

जीवन सचालन और निर्णायक बुद्धि

ससार के इस रगमच पर सजीव शरीर रूपी कार न जाने कब से इधर-उधर दौड रही है। शरीर आपके भी है, आपको दीखता भी है, लेकिन पहली बात तो यह कि आप यह समझने का गभीरता से प्रयास नही करते कि इस सजीव शरीर को दौडाने वाली कौन सी शक्ति है? जब तक जीवन के सचालक की स्थिति ही समझ मे नही आवे तो उसकी सचालन विधि को

समझना तथा उसको नियन्त्रित करना—यह तो आगे की बात है। सचालन-विधि को सुव्यवस्थित करने और रखने वाली ही तो निर्णायक बुद्धि होती है।

सिर्फ कार की ओर देखा और चलाने वाले को नहीं समझा तो उससे अनर्थ की ही आशका रहेगी। इस दृष्टिभेद को गभीरता से समझना चाहिये। शरीर की सजीवता किसकी बदौलत है, उसे और उसके मूल तथा विकृत स्वभाव को नही समझने से जीवन विकास का सूत्र हाथ मे नही आ सकेगा। शरीर की सजीवता आत्मा मे निहित होती है, अत सिर्फ शरीर को देखे और आत्मा को नही समझें तो भोग वृत्ति को बढावा मिलता है। जहा भोग है, वहा स्वार्थ है और स्वार्थ भ्रष्टाचार, अनीति एव अन्याय का जनक होता है। एक बार भोग मे मन रम गया तो उस दल-दल से निकलना भी दुष्कर हो जाता है। उस मूल स्थिति को समझें कि स्वार्थ नही कटता तो त्याग नहीं आता—त्याग नही तो सम्यक्, निर्णय नही, समता नही और वैसी स्थिति मे वास्तव मे जीवन ही कहा बनता है ?

व्यामोह, विभ्रम और विकार

आत्मानुभूति के अभाव मे अर्थात् चेतना की शिथिल या सुषुप्त अवस्था मे ही मानव-मन दृश्यमान पदार्थों के प्रति आसक्त बना रहता है। लोग अपने शरीर या अन्य शरीरो की सुन्दर छवि को देखते नही अघाते। धन, सम्पदा, ऐश्वर्य और सत्ता को सिर्फ अपने या अपनो के लिये ही बटोरने की ओर अन्धतापूर्वक झुक जाते हैं। यह क्या है ? इसे ही व्यामोह कहते हैं जो पौद्गलिक पदार्थो पर आसक्ति को बनाये रखता है। तब सदाचार, सहयोग, सद्भावना आदि के मानवीय गुणो की ओर रुचि नही जाती, अपने भीतर झाकने की सज्ञा तक पैदा नही होती। इस व्यामोह का केन्द्र जड तत्त्व होता है और जड का प्रभाव आत्मा मे भी जडता ही भरता है।

व्यामोह के विचार के कारण एक व्यक्ति यौवन काल मे जितना हर्षित होता है वृद्धावस्था मे उतना ही व्यथित भी हो जाता है। कारण शरीर की ओर उसकी दृष्टि होती है आत्मा की ओर नही। आत्मा तो कभी वृद्ध नही होती—यदि सम्यक् निर्णायक बुद्धि जागृत रहे तो वह चिरयौवना रहती है।

जहां व्यामोह है, वहां विभ्रम है। व्यामोह विचार को विगाडता है, तो दृष्टि स्वयमेव ही विगड जाती है। पीलिये का रोगी सभी रगो को पीलेपन

मे ही देखने लग जाता है। कोई जैसा सोचता और देखता है, वैसा ही करने भी लगता है।

दृष्टि के बाद कृति का विगाड शुरू होता है और विकृति विकार की ग्राहक बनती है। आपत्ति अकेली नही आती और विकृति अकेली नही होती। इसका असर तो बाध फूटने जैसा होता है। विकारो का गन्दा नाला रोक हटते ही तेजी से अन्दर घुसता है और जितनी गन्दगी फैला सकता है, तेजी से फैलाता है। ऐसा तभी होता है जब जीवन को चलाने वाला चैतन्य अपनी सुधबुध खो बैठता है।

यथाशक्ति सभी निर्णायक हैं

मानव जीवन मे ही नही, प्रत्येक छोटे-मोटे जीवन मे भी यथाविकास निर्णय शक्ति समाई रहती है। जितनी आत्मानुभूति, उतनी निर्णायक शक्ति और जितनी आत्म-जागृति, उतनी ही इस शक्ति मे अभिवृद्धि होती जाती है। पशुओ के पास भी यह निर्णायक शक्ति है। पशु तो पचेन्द्रिय है किन्तु चार से लेकर नीचे तक एक इन्द्रिय वाले प्राणी-जीवन मे भी अपनी विकास स्थिति के अनुसार निर्णायक बुद्धि अवश्य होती है। वनस्पति के एकेन्द्रिय जीवन मे भी देखा जाता है कि एक बढता हुआ पौधा भी आने वाली आपदाओ से इधर-उधर झुककर या अन्य उपाय से किस तरह अपनी रक्षा करने का यत्न करता है?

इसी निर्णायक शक्ति के विकास का पहले प्रश्न है और बाद मे उसके सम्यक् विकास की समस्या सामने आती है। जब अन्तर मे विकास जागता है तो जीवन-शक्ति का भी उत्थान होता है। एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय जीवन तक तथा वहाँ से मानव जीवन की उपलब्धि इसी क्रमिक विकास का परिणाम होता है। मानव जीवन मे भी यह निर्णायक शक्ति अधिक पुष्ट बने—अधिक सम्यक् बने—इस ओर मनुष्य के ज्ञान, दर्शन और आचरण की गति अग्रसर बननी चाहिये।

निर्णायक शक्ति के मूल की परख

निर्णायक शक्ति की जागृति और प्रगति इस ज्ञान दृष्टि पर आधारित है कि कार के चालक को समझा जाय यानि कि अन्तर के आत्म-तत्त्व की

प्रतीति की जाय। जो "मैं" के मूल को समझ लेता है, वह वाहर दृश्यमान पदार्थों मे अपने 'ममत्व' को भी छोड देता है। जहाँ पर ममत्व छूटता है, वही से तो निर्णायक ही नही, सम्यक् निर्णायक शक्ति का उद्गम होता है। कार का चालक भी यदि ममत्व मे पड जाय कि मेरे को तो वचाऊँ और जो मेरा नही है—उसे कुचल डालू तो क्या कार की गति स्वस्थ रह सकती है ?

जड से मन को हटाकर नियमित एवं सयमित वनाया जाय तो चेतना जागृत होती है—सम्यक् निर्णायक शक्ति जागती है और इसके सजग रहते विषमता का विस्तार सम्भव नही होता। फिर तो जो विषमता होती है, वह भी इस शक्ति के प्रादुर्भाव से निरन्तर नष्ट होती हुई चली जाती है। समता का समरस तव व्यक्ति मे और व्यक्ति-व्यक्ति से एक ओर समाज मे तो दूसरी ओर समाज के प्रभाव से दुर्बलतर व्यक्तियो मे प्रवाहित होने लगता है तथा उस प्रवाह से जीवन के सभी क्षेत्रो मे सच्चे सुख का साम्राज्य फैल जाता है।

मूल को एक वार पकड लेने पर उसकी शाखा-प्रशाखाओं या फूल पत्तो को पा लेना अधिक कठिन नही रहेगा। चैतन्य को याने कि स्वय को अपना शासक वना लें और जड को अपने प्रशासन मे ले लें तो जहाँ राजनीति, अर्थनीति तथा समाजनीति भी सुधर जायगी वहाँ धर्मनीति भी अपने सहज स्वरूप मे सज-सवर जायगी।

यहाँ वैयक्तिक शक्ति के साथ सामाजिक शक्ति के उद्भव को समझ लेना आवश्यक है। यो तो व्यक्तियो के मिलने से ही समाज की रचना होती है किन्तु उस रचना के वाद सामाजिक शक्ति का स्वतन्त्र रूप मे विकास होने लगता है जो एक प्रकार से व्यक्तियो की शक्ति की नियन्त्रक वन जाती है। जैसे कुछ व्यक्ति मिलकर एक सस्था खडी करते हैं और उसका विधान वनाते हैं, तव वह सस्था अपनी स्वतन्त्र शक्ति वना लेती है तथा उसके सामने व्यक्ति की शक्ति प्रभावहीन वन जाती है, अपितु व्यक्ति की शक्ति को सस्था की शक्ति के सामने नत मस्तक हो जाना पडता है। यदि उस सस्था का अध्यक्ष भी सस्था के विधान के विपरीत आचरण करता है तो विधान मे अकित दण्ड को उसे भी भोगना पडता है। इस सामाजिक शक्ति का मूल व्यक्ति की स्वेच्छा मे है फिर भी वह समूह की इच्छा से उभर कर व्यक्ति के आचरण को अपने नियन्त्रण मे कर लेती है। वैयक्तिक शक्ति तथा सामाजिक शक्ति के इस अन्तर मे हमे जीवन विकास का मार्ग खोजना चाहिये।

भगवान् महावीर ने धर्म की वडी गूढ परिभाषा की है—'वत्थुसहावो धम्मो' अर्थात् वस्तु का जो मूल स्वभाव है, वही उसका धर्म कहलायगा। इस सन्दर्भ मे देखना है कि निर्णायक शक्ति चेतना का मूल कहाँ है ? मूल की परख से ही उसके स्वभाव की पहिचान होगी तो उसके स्वभाव से ही यह भान होगा कि अमुक व्यक्ति की चेतना अपने स्वभाव मे स्थित है अथवा अपने स्वभाव से भटकी हुई है। इस मूल को पकड लेने पर विषमता को मिटाने तथा समता को फैलाने का मार्ग स्वत' ही स्पष्ट हो जाता है।

व्यक्ति के जीवन को जो शक्ति थामे हुए है, उसे चेतना कह लीजिये या आत्मा। और आत्मा का जो मूल स्वभाव है, वही उसका धर्म कहलायगा। जव कोई आत्मा अपने सम्पूर्ण स्वभाव को याने कि धर्म को प्राप्त कर लेती है तो अपने मोक्ष को भी प्राप्त कर लेती है। मूल स्वभाव की परख के लिये एक दृष्टान्त ले लें। लकडी के टुकडे का मूल स्वभाव पानी मे तैरना है और जव वह पानी मे तैरता है, वह मुक्त होता है। लेकिन अगर उसे कोई किसी लोहे की डिविया के वन्धन मे डालकर पानी मे छोडे तो क्या वह तैरेगा ? वह तैर नही सकेगा वल्कि वन्धन के भार से डूब जायगा। तो उसका वह डूबना उसका स्वभाव नही रहा, विगडा हुआ भाव हो गया जिसे पारिभाषिक शव्द से 'विभाव' कहा जायगा। उस लकडी के टुकडे का विभाव मिटाना है तो उसे वन्धन-मुक्त कर दीजिये, वह तुरन्त अपने स्वभाव मे पहुँच जायगा।

अव अपने आत्म-स्वरूप को इस तुला पर रखिये। मूल मे आत्म-स्वरूप परम विशुद्ध होता है, लेकिन जव उसका ससर्ग जड के साथ जुडता है तो वह स्वरूप वन्धन के साथ जुड जाता है और कर्म-प्रभाव से प्रतिवद्ध वन जाता है। यो कहे कि वैसी आत्मा अपने स्वभाव से विलग होती हुई विभाव मे वढती जाती है। तव विभाव मे भटकने से भारी होकर वह डूवती जाती है। ऐसी स्थिति होती है सासारिक आत्माओ की—जो विषम होती है। इस विषमता से मुक्त करके आत्मा को अपने शुद्ध स्वभाव मे स्थित वना देना ही उसके धर्म को प्राप्त कर लेना है। इस लक्ष्य की जो पूरी प्रक्रिया है, वही आध्यात्मिकता है। आध्यात्मिकता अर्थात् आत्मा को विकास के शिखर तक ले जाने की साधना या कला। आत्मा के विकास की सर्वाधिक क्षमता मानव-जीवन मे होती है अत मानव जीवन की शुद्धि के प्रयास से ही आत्म विकास के पथ को प्रशस्त वनाया जा सकता है।

इस विश्लेपण मे व्यष्टि के लिये समष्टि की तथा समष्टि के लिये व्यष्टि की सार्थकता का सही अनुसन्धान करना होगा। आत्म विकास का यह मार्ग ही समाज विकास का भी मार्ग है। प्रबुद्ध व्यक्ति समाज को बलशाली बनावें और समाज के बल का सहारा पकड कर दुर्बल व्यक्ति उन्नति की ओर बढें—यही व्यष्टि एव समष्टि के सम्बन्धो की सहज सार्थकता मानी जाती है।

तो जो धर्म है वह तो आत्मा का साध्य है। इस साध्य को प्राप्त करने के लिये साधन क्या होंगे? इन्ही साधनो को अपने भीतर-बाहर के जीवन मे खोजना होगा। इन्ही साधनो को हम धर्म के सन्दर्भ मे नीतियो के नाम से पुकारेंगे। जहाँ विविध दर्शन आत्म साधना के उपाय बनाकर व्यक्ति के जीवन को उन्नत बनाने की बात कहते हैं तो वही राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति आदि विभिन्न सामाजिक नीतियाँ समाज के धरातल को इस तरह समतल बनाने की बात कहती हैं कि व्यक्ति उस धरातल पर चलकर अपने विकास को सुलभ बना लें। आध्यात्मिक दर्शनो को इस प्रसग मे धर्मनीति का नाम दे सकते हैं। इस प्रकार जब धर्म नीतियाँ और समाज नीतियाँ पारस्परिक सन्तुलन के साथ व्यक्ति के जीवन को प्रेरित करती हैं तो उनका स्वस्थ प्रभाव यही होगा कि चेतना जागेगी और वह स्वानुभूति प्रदान करेगी कि आत्मा 'स्वभाव' की दिशा मे प्रगति करने लगी है। जितनी वह स्वभाव मे स्थित होती जायगी, वह बन्धन मुक्त भी होती जायगी। एक-एक आत्मा की बन्धन मुक्ति ही समग्र जीवन मे समता का सूत्रपात्र करेगी।

आत्मा की निर्णायक शक्ति तब जागृत बनी रहेगी और वह अपने ही स्वभाव को सुरक्षित नही बनायगी बल्कि सभी के स्वभाव को जगाने का यत्न करेगी। व्यक्ति से तब समाज और समाज से व्यक्ति सम्बल पाता हुआ सारे ससार मे समता का शखनाद कर सकेगा।

अपने को देखिये . निर्णय कीजिये

जीवन क्या है? उसे क्या होना चाहिये? इन दोनो स्थितियो को अन्तर की जितनी गहराई से देखने एव समझने का प्रयत्न किया जायगा, उतनी ही निर्णायक शक्ति प्रबुद्ध बनती जायगी। कार वहाँ खडी है और वहाँ से उसे कहाँ ले जाना है—जब इसका ज्ञान चालक को होगा तो वह मार्ग के सम्बन्ध मे विशेष सजगता से निर्णय ले सकेगा। हो सकता है—पहले उसके

निर्णय मे भूल रह जाय किन्तु ठोकर खाने के बाद वह गति और प्रगति की निष्ठा से सही मार्ग जरूर खोज निकालेगा।

अपने आपको इस प्रकार भीतर घुसकर देखने से अपने मैले और आदर्श निर्मल स्वरूप का अन्तर समझ मे आवेगा और तब निर्णय बुद्धि सजग बनेगी। यह हो सकता है कि पहले वह मिथ्या मे भटक जाय—किन्तु चेतना और निष्ठा सुलझी हुई रही तो वह सम्यक् भी अवश्य बन जायगी। उसका यह सम्यक् मोड ही समता की ओर जीवन को मोडेगा—फिर समता की विचार और आचार मे साधना जीवन का धर्म बन जायगी।

जीवन की तब सच्ची परिभाषा प्रकट होगी। जो सम्यक् निर्णायक है और समतामय है—वही जीवन है। शेष जीवन प्राण धारण करते हुए भी इस जागृति के अभाव मे मृत के पर्यायवाची ही कहलायेंगे।

समतामय जीवन

समता शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न रूपो मे लिया जाता है। वैसे मूल शब्द सम है जिसका अर्थ समान होता है। यह समानता जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे किस-किस रूप मे हो—इसका विविध विश्लेषण किया जा सकता है।

सबसे पहले आध्यात्मिक क्षेत्र की समानता पर सोचें तो अपने मूल स्वरूप की दृष्टि मे सारी आत्माएँ समान होती हैं—चाहे वह एकेन्द्रिय याने अविकसित प्राणी की आत्मा हो या सिद्ध भगवान की पूर्ण विकसित आत्मा। दोनो मे वर्तमान समय की जो विषमता है, वह कर्मजन्य है। कुविचारो एवं कुप्रवृत्तियो का मैला अविकसित अवस्था मे आत्मा के साथ संलग्न होने से उसका स्वरूप भी मैला हो जाता है और जैसे मैले दर्पण मे प्रतिबिम्ब नही दिखाई देता, उसी तरह मैली आत्मा भी श्रीहीन बनी रहती है। तो आध्यात्मिक समता यह है कि इस मैल को दूर करके आत्मा को अपने मूल निर्मल स्वरूप मे पहुंचाया जाय।

एक-एक आत्मा इस तरह समता की ओर मुडे तो दूसरी ओर परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व मे भी ऐसा समतामय वातावरण बनाया जाय जिसके प्रभाव से समूहगत समता भी सशक्त बनकर समग्र जीवन को समतामुखी बना दे। राजनीति मे समानता, अर्थनीति मे समानता और समाजनीति

मे समानता के जब पग उठाये जायेंगे और उसे अधिक मे अधिक वास्तविक रूप दिया जायगा तो ममता की द्विधारा वहेगी—भीतर से वाहर और बाहर से भीतर। तब भौतिकता और आध्यात्मिकता सघर्षशील न रहकर एक दूसरे की पूरक वन जायगी, जिमका समन्वित रूप जीवन के वाह्य और अन्तर को समतामय बना देगा।

यह परिवर्तन समाजवाद या साम्यवाद से आवे अथवा अन्य विचार के कार्यान्वयन से—किन्तु लक्ष्य हमारे सामने स्पष्ट होना चाहिये कि मानवीय गुणों की अभिवृद्धि के साथ सासारिक व्यवस्था मे अधिकाधिक समता का प्रवेश होना और ऐसी समता का जो मानव-जीवन के आभ्यन्तर को न सिर्फ सन्तुलित रखे, बल्कि उसे सयम-पथ पर चलने के लिए प्रेरित भी करे। धरातल जब समतल और साफ होता है तो कमजोर आदमी भी उस पर ठीक व तेज चाल से चल मकता है, किन्तु इसके विपरीत अगर धरातल उबडखाबड और कटीला पथरीला हो तो मजबूत आदमी को भी उस पर भारी मुश्किलो का सामना करना पडेगा। व्यक्ति की क्षमता का तालमेल यदि सामाजिक विकास के साथ बैठ जाता है तो व्यक्ति की क्षमता भी कई गुनी वढ जाती हैं।

व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध

यो देखा जाय तो समाज कुछ भी नही है—व्यक्ति-व्यक्ति मिल कर ही तो समाज की रचना करते है, फिर व्यक्ति से विलग समाज का अस्तित्व कहाँ है ? किन्तु सभी के अनुभव मे आता होगा कि व्यक्ति की शक्ति प्रत्यक्ष दीखती है फिर भी समूह की शक्ति उसमे ऊपर होती है जो व्यक्ति की शक्ति को नियन्त्रित भी करती है। एक व्यक्ति एक सगठन की स्थापना करता है—उसके नियमोपनियम वनाता हैं तथा उनके अनुपालन के लिये दड व्यवस्था भी कायम करता है। एक तरह से सगठन का वह जनक है, फिर भी क्या वह स्वय ही नियम-भग करके दड से वच सकता है ? यही शक्ति समाज की शक्ति कहलाती है जिमे व्यक्ति स्वेच्छा से वरण करता है। राष्ट्रीय सरकारो के सविधानो मे यही परिपाटी होती है।

जब-जब व्यक्ति स्वस्थ धारा मे अलग हटकर निरकुश होने लगता है—शक्ति के मद मे झूम कर अनीति पर उतारू होता है, तब-तब यही सामाजिक शक्ति उस पर अकुश लगाती है। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता

होगा कि कई बार वह कुकर्म करने का निश्चय करके भी इसी विचार से रुक जाता है कि लोग क्या कहेंगे ? ये लोग चाहे परिवार के हो—पडोस के हो—मोहल्ले, गाव, नगर या देश-विदेश के हो , इन्हे ही समाज मान लीजिये ।

व्यक्ति स्वय से नियत्रित हो व्यक्ति समाज से नियन्त्रित हो—ये दोनो परिपाटियाँ समता लाने के लिये सक्रिय बनी रहनी चाहिये । यही व्यक्ति एव समाज के सम्बन्धों की सार्थकता होगी कि विषमता को मिटाने के लिये दोनो ही नियत्रण सुदृढ बनें ।

समता मानव मन के मूल मे है

प्रत्येक मानव अपने जीवन को सुखी बनाना चाहता है और उसके लिए प्रयास करता है, किन्तु आज की दुविधा यह है कि सभी तरह की विषमताओ के बीच सम्पन्न भी सुखी नही, विपन्न भी सुखी नही और शान्ति लाभ तो जैसे एक दुष्कर स्थिति बन गई है । इसका कारण यह है कि मानव अपने साध्य को समझने के बाद भी उसके प्रतिकूल साधनो का आश्रय लेकर जब आगे बढता है तो बबूल उगाने से आम कहाँ फलेगा ?

समता मानव मन के मूल मे है—उसे भुला कर जब वह विपरीत दिशा मे चलता है तभी दुर्दशा आरम्भ होती है ।

एक दृष्टान्त मे इस मूल प्रवृत्ति को समझिये । चार व्यक्तियो को एक साथ खाने पर बिठाया गया । पहले की थाली मे हलुआ, दूसरे की थाली मे लप्सी, तीसरे की थाली मे सिर्फ गेहूं की रोटी तो चौथे की थाली मे बाजरे की रोटी परोसी गई, तो क्या चारो साथ बैठकर शान्तिपूर्वक खाना खा सकेंगे ? ऊपरवाला नीचे वाले के साथ घमड से ऐंठेगा तो नीचे वाला भेद-भाव के दर्द से कराहेगा । इसके विरुद्ध सभी की थालियो मे केवल बाजरे की रोटी ही हो तो सभी प्रेम से खाना खा लेंगे । इसलिये गहरे जाकर देखें तो पदार्थ मनुष्य के सुख और शान्ति के कारण नही होते बल्कि उसके मन की विचारणा ही अधिक सशक्त कारण होती है । अत सबके साथ समता का व्यवहार करें—ऐसी जागृति होना भी अनिवार्य है ।

समता का मूल्यांकन

समता या समानता का कोई यह अर्थ ले कि सभी लोग एक ही विचार के या एक से शरीर के बन जावें अथवा बिल्कुल एक सी ही स्थिति

में रखे जावें तो यह न संभव है और न ही व्यावहारिक। एक ही विचार हो तो विना आदान-प्रदान, चिन्तन और संघर्ष के विचार का विकासशील प्रवाह ही रुक जायगा। इसी तरह आकृति, शरीर अथवा संस्कारों में भी समान-पने की सृष्टि सम्भव नहीं।

समता का अर्थ है कि पहले समतामय दृष्टि बने तो यही दृष्टि सौम्यतापूर्वक कृति में उतरेगी। इस तरह समता समानता की वाहक बन सकती है। आप ऐसे परिवार को लीजिये, जिसमें पुत्र अर्थ या प्रभाव की दृष्टि से विभिन्न स्थितियों में हो सकते हैं किन्तु सब पर पिता की जो दृष्टि होगी, वह समतामय होगी। एक अच्छा पिता ऐसा ही करता है। उस समता से समानता भी आ सकेगी।

समता कारण रूप है तो समानता कार्यरूप; क्योंकि समता मन के धरातल पर जन्म लेकर मनुष्य को भावुक बनाती है तो वही भावुकता फिर मनुष्य के कार्यों पर असर डाल कर उसे समान स्थितियों के निर्माण में सक्रिय सहायता देती है। जीवन में जब समता आती है तो सारे प्राणियों के प्रति समभाव का निर्माण होता है। तब अनुभूति यह होती है कि बाहर का सुख हो या दुःख—दोनों अवस्थाओं में समभाव रहे—यह स्वयं के साथ की स्थिति, तो अन्य सभी प्राणियों को आत्म-तुल्य मानकर उनके सुख-दुख में सहयोगी बने—यह दूसरों के साथ व्यवहार करने की स्थिति। ये दोनों स्थितियाँ जब पुष्ट बनती हैं तो यह मानना चाहिये कि जीवन समतामय बन रहा है। कारण कि यही पुष्ट भावना आचरण में उतर कर व्यक्ति से समाज और समाज से व्यक्ति की दोराहों पर विषमता को नष्ट करती हुई समता की सृष्टि करती है।

समता का आविर्भाव कब ?

समता का श्रीगणेश मन से होना चाहिये। मन की दो वृत्तियाँ प्रमुख होती हैं—राग और द्वेष। ये दोनों विरोधी वृत्तियाँ हैं। जिसे आप चाहते हैं उसके प्रति राग होता है। राग से मोह और पक्षपात जन्म लेता है। जिसे आप नहीं चाहते उसके प्रति द्वेष आता है। द्वेष से कलुष, प्रतिशोध और हिंसा पैदा होती है। ये दोनों वृत्तियाँ मन को चंचल बनाती रहती हैं तथा मनुष्य को स्थिरचित्ती एवं स्थिरधर्मी बनने से रोकती हैं। चंचलता से

विषमता बनती और बढती है। मन विषम तो दृष्टि विषम होगी और उसकी कृति भी विषम होगी।

समता का आविर्भाव तभी सभव होगा जब राग और द्वेष को घटाया जाय। जितनी निरपेक्ष वृत्ति पनपती है, समता सगठित और सस्कारित बनती है। निरपेक्ष दृष्टि मे पक्षपात नही रहता और जब पक्षपात नही है तो वहाँ उचित के प्रति निर्णायक वृत्ति पनपती है तथा गुण और कर्म की दृष्टि से समता अभिवृद्ध होती है। अगर एक पिता के मन मे भी एक पुत्र के प्रति राग और दूसरे के प्रति द्वेष है तो वह स्थिति समता जीवन की द्योतक नही है। मैं सबकी आखो मे प्रफुल्लता देखना चाहू—मैं किसी की आख मे आसू नही देखना चाहू—ऐसी वृत्ति जब सनेष्ट बनती है तो मानना चाहिये कि उसके मन मे समता का आविर्भाव हो रहा है।

बाह्य समानता के लिये प्रयास करने से पूर्व अन्तर की विषमता नही मिटाई और बाहर की विषमता किसी भी बल प्रयोग से एक बार मिटा भी दी गई हो तो भी विषमतामय अन्तर के रहते वह समानता स्थायी नही रह सकेगी। एक ध्वजा जो उच्च गगन मे वायु-मण्डल मे लहराती है—उसकी कोई दिशा नही होती। जिस दिशा का वायु वेग होता है, वह उधर ही मुड जाती है। किन्तु ध्वजा का जो दण्ड या स्तूप होता है, वह सदा स्थिर रहता है। तो समता के विकास के लिये दण्ड या स्तूप बनने का प्रयास करें जो स्थिर और अटल हो। फिर समता का विकास होता चला जायगा।

जीवन की कसौटी

'जीवन क्या है' के सूत्र से जीवन की कसौटी का परिचय मिलता है। जड और चेतन की स्थिति को समझते हुए राग और द्वेष की भावना से हटकर जब निर्णय शक्ति एव समता भावना पल्लवित होती है तभी जीवन मे एक सार्थक मोड आता है। अत जीवन की कसौटी यह होगी कि किसी को जड पदार्थों पर कितना व्यामोह है और चेतन शक्ति के प्रति कितनी क्रियाशील आस्था और निष्ठा है तथा वह मन को कितना स्थिर तथा निरपेक्ष रख सकता है या मन की चचलता मे अपनेपन को भूलकर बाहरी दलदल मे फसा हुआ है? इसी कसौटी पर किसी के जीवन की सजीवता का अकन किया जा सकता है।

यही कसौटी व्यक्ति के जीवन के लिये और यही कसौटी विभिन्न प्रकार के छोटे-बड़े समूहों के जीवन को आंकने के लिये काम में ली जा सकती है। इस सारी कसौटी को सार रूप में सम और विषम रूप में परिभाषित किया जा सकता है। जीवन में जितनी विषमता है, वह उतना ही भटका हुआ है और जितनी समता आती है, वह उसके सच्चे मार्ग पर प्रगतिशील होने का संकेत देने वाली होती है।

अन्तर्दृष्टि और बाह्य दृष्टि

समता के दो रूप हैं दर्शन और व्यवहार। जो वैचारिक दृष्टि हमें समता मूलक स्वस्थ चिन्तन के लिये प्रेरित करती है— हमारे अन्तर चक्षुओं को उद्घाटित करती है उसे हम दर्शन की संज्ञा देते हैं तथा वही दृष्टि व्यवहार के धरातल का अनुसरण करती है—आचरण में ढलती है तब उसे व्यवहार समता कहा जाता है। प्रथम को अन्तर्दृष्टि और द्वितीय को बाह्य दृष्टि कहा जा सकता है।

अतः अन्तर और बाह्य दोनों दृष्टियों से समतापूर्ण जीवन का संचालन करने से सार्थक जीवन की उपलब्धि हो सकती है। दर्शन की गति व्यापक नहीं हो तो व्यवहार में भी एकरूपता नहीं आती है। इसके लिये अन्तर्दृष्टि और बाह्य दृष्टि में सम्यक् समन्वय होना चाहिये।

आप एक मकान को देखते हैं। उसमें कहीं पत्थर होता है, कहीं चूना, सीमेन्ट, लोहा, लकड़ी आदि। फिर उसमें रहने या बैठने वालों की स्थिति भी एक सी नहीं होती—अलग-अलग आकृतियाँ, वेशभूशा आदि। फिर भी यदि अन्तर्दृष्टि में सबके समता आ जाय तो इन विभिन्नताओं के बावजूद सारा समूह एकरूपता की अनुभूति ले सकता है। बाह्य दृष्टि की विषमता इसी भाव एवं विचार समता के दृढ़ आधार पर समाप्त की जा सकती है।

किन्तु जो अन्तर्दृष्टि में शून्य रह कर केवल बाह्य दृष्टि में भटकता है, वह विषमता को ही अधिक बढ़ाता है। समता की साधना एकांगी नहीं, मन, वचन एवं कर्म तीनों के सफल संयोग से की जानी चाहिये तभी बाह्य दृष्टि अपना मार्ग अन्तर्दृष्टि से पूछ कर ही चलेगी। अन्तर्दृष्टि का अनुशासन ही बाह्य दृष्टि पर चलना चाहिये।

जितना भेद, उतनी विषमता

भौतिकता और आध्यात्मिकता मे जडत्व और चैतन्य शक्ति मे अथवा अन्तर और वाह्य दृष्टि मे जितना अधिक भेद होगा उतनी ही विपमता अधिक कटु, कुटिल और कष्टदायक होगी। इनमे जितना समन्वय वढेगा, उतना ही स्वार्थ और मोह घटेगा—परिग्रह के प्रति मूर्छा एव ममत्व कटेगा और उतने ही अशो मे सबको समान सुख देने वाली समता की सदाशयता का श्रेष्ठ विकास होगा।

जहाँ भेद है, वहाँ विकार है, पतन है। मन और वाणी मे भेद है—वाणी और कर्म मे भेद है तो वहाँ विपमता का खेद ही खेद समझिये। जीवन मे सच्चे आनन्द का स्रोत समता की तरलता से ही फूट सकेगा। जव 'तेरे-मेरे' की दीवारें टूटती हैं तव अन्तर्मन मे एक विराटता का प्रकाश फैलता है, उसी प्रकाश को समता सुस्थिर, शीतल और सौख्यपूर्ण वनाती है।

जीवन को सच्चा जीवन वनावें

प्राण धारण करना मात्र ही सच्चा जीवन नही है—वह तो निर्णयशील एव समभावी होना चाहिये। "सम्यक् निर्णायक समतामय" जीवन की प्राप्ति का लक्ष्य जव अपने सामने रखा जायगा तो मिथ्या धारणायें निर्मूल होगी तथा ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य का निर्मल आलोक चारो ओर फैलेगा। तभी जीवन की कसौटी पर समता का भी सच्चा मूल्याकन किया जा सकेगा। एक सच्चा जीवन ही कई जीवित-मृतो को सज्ञावान् वनाने मे सफल हो सकता है तो ऐसी सजीवता का प्रभाव जितना फैलेगा, उतना ही सभी क्षेत्रो मे नव-जीवन विकसित होता जायगा।

मनुष्य के मन मे और उसके वाहर परिवार से लेकर समूचे ससार मे ऐसा नव-जीवन लाने का एक मात्र उपाय है कि सभी तरह की विपमताओ पर घातक आक्रमण किया जाय और समतामय जीवन शैली का विकास साधा जाय।

समता : शान्ति, समृद्धि एवं श्रेष्ठता की प्रतीक

मनुष्य के मन के मूल में रही समता ज्यों ज्यों उभरती जायगी, वह अपने व्यापक प्रभाव के साथ मानव जीवन को भी उभारती जायगी। उसे अशान्ति, दुःखद्वन्द्व एव निकृष्टता के चक्रवात से बाहर निकाल कर वही समता उसे शान्ति, सर्वांगीण समृद्धि एवं श्रेष्ठता के सांचे में ढालेगी। ऐसी ढलान के बाद ही मनुष्य विषमताजन्य पशुता के घेरों से निकल कर आनंदितापूर्ण मनुष्यता का स्वामी बन सकेगा। समता शान्ति, समृद्धि एवं श्रेष्ठता की प्रतीक होती है—इसे कभी न भूलें।

———

: 3 :

समता दर्शन : समुच्चय में

यह विशाल एव विराट् विश्व एक दृश्य तत्त्व है किन्तु विश्व दर्शन सहज नही होता है। इस के लिये विभिन्न प्रकार की दृष्टियाँ अपेक्षित होती हैं। सामान्य जन जिम दृष्टि से परिचित होता है, वह होती है चर्म चक्षुओ की दृष्टि। प्रत्येक प्राणी की यह दृष्टि अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार सीमित होती है और यह सीमा भी वाह्य स्वरूप मात्र को अमुक-अमुक दूरी तक देख सकने की ही होती है। महापुरुष जिस गहन एव दूरदर्शी दृष्टि से इस विश्व जनित वातावरण की गहरी परतो को देखते हैं एव उसके विविध रहस्यो को उद्घाटित करते हैं वह ज्ञान दृष्टि होती है। जिसने इस दृष्टि का जितना विकास किया हुआ होता है, वह उतनी ही गहराई से विश्व-दर्शन कर सकता है। सर्वज्ञ भगवान् का अनन्त ज्ञान अपने विकास के चरम विन्दु पर पहुँच कर समस्त विश्व को लोक को—"हस्तामलकवत्" देखता रहता है। इस रूप मे दृष्टि विकास वह मूल प्रक्रिया है, जो यथार्थ रूप मे एव यथावत् परिवर्तनो के साथ इस विराट् विश्व का दर्शन कर सकती है। यह दृष्टि-विकास सामान्य रूप से शारीरिक अथवा मानसिक सामर्थ्य से ऊपर आध्यात्मिक साधना के वल पर ही समुपलब्ध हो सकता है।

दर्शन का सम्बन्ध दृष्टि से होता है। दृश्यते अनेन इति दर्शनम्—जिससे देखा जाय वह दर्शन। फिर दर्शन ऐसा भी होता है, जो किसी से विलग होकर किया जाय अथवा ऐसा भी होता है जो किसी के भीतर जाकर किया जाय। इन्हे कहते हैं—'दृश्यते अस्माद्' अथवा 'दृश्यते अस्मिन्'। दर्शन की दृष्टियाँ कई हैं तो विधियाँ भी कई होती हैं।

यह प्रश्न भी उठता है कि दर्शन करने वाला कौन ? और यह मुख्य प्रश्न है। कारण, दर्शन करने वाले का पहले निर्णय होगा। तभी तो दर्शन की दृष्टियो व विधियो की मीमासा की जा सकेगी। इस प्रश्न के उत्तर मे

सामान्य जन यही कहेगा कि देखने वाली आखें होती हैं। किन्तु यह उत्तर गहराई का नही है। आखे तो मात्र माध्यम होती हैं। असल देखने वाला उनकी पृष्ठभूमि मे होता है। यह द्रष्टा अपनी ज्ञान दृष्टि से विश्व को भी देखता है तो निज स्वरूप को भी देखता है, अथवा यो कहे कि यह निज स्वरूप को भलीभाति देख-परख लेने के वाद ही विश्व-स्वरुप की गूढता मे प्रवेश करता हैं। ऐसे द्रष्टा की ऐसी दृष्टि को ही दर्शन कहना समीचीन होगा। क्रम इस प्रकार चलेगा—द्रष्टा, दृष्टि, दर्शन और दृश्य। दृश्य का ही दर्शन हो सकेगा किन्तु वह तभी जव द्रष्टा और उसकी दृष्टि सही हो। विश्व दर्शन के लिये भी योग्य द्रष्टा एव समर्थ दृष्टि की आवश्यकता होती है।

योग्य द्रष्टा की समर्थ दृष्टि इस विश्व के विशाल रगमच पर जहाँ भी पडेगी, वह सम तत्त्वो की शोध करेगी तथा विषम तत्त्वो को भी समता के साथ सम वनाने मे निरत हो जायगी। द्रष्टा वही योग्य जो समता को अपनी दृष्टि मे समा ले तथा दृष्टि वही समर्थ जो विषम को भी सम वना दे। यह समतामूलक धरातल ही सफल विश्व-दर्शन की ओर अग्रसर वनाता है। ऐसा प्रगतिशील द्रष्टा 'समदर्शी' वन जाता है।

यथावत् रूप मे देखने का सामर्थ्य

दृष्टि स्वच्छ हो और द्रष्टा आवरणो से घिरा न हो तभी यथावत् रूप मे देखने का सामर्थ्य उत्पन्न हो सकता है। दृष्टि पर रग-वदरग काच लगे हो और द्रष्टा अपनी वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो के नानाविध आवरणो से जकडा हुआ हो तो द्रष्टा वही देख सकेगा जो आवरणो की परतें दिखायेंगी और दृष्टि भी वही रूप दिखायेगी जिन रगो के काच होंगे। यथावत् स्वरूप द्रष्टा एव दृष्टि की सर्व प्रकारेण वेधन मुक्ति के पश्चात् ही देखा जा सकता है। द्रष्टा की मति निर्मल हो एव दृष्टि व दृश्य के वीच व्यवधान न हो तभी किसी भी तत्त्व अथवा पदार्थ को उसके अपने स्वरूप मे देखा जा सकेगा, वरन् आवरणो और काचो का व्यवधान कभी भी यथार्थ रूप मे दृष्टि एव दृश्य का मिलन नही होने देगा।

द्रष्टा जव 'समदर्शी' वन जाता है तो उसका अर्थ ही यह होता है कि उसकी दृष्टि वीच के आवरणो को भेद कर यथावत् रूप देखने मे समर्थ हो

गई है। यह समता का दर्शन समभाव जागृत करता है तो समानता के बोध को परिपुष्ट बनाता है।

दृष्टि और दृश्य के बीच विचारणीय है कि ये आवरण क्या होते हैं ? इसे प्रतीकात्मक रूप से समझें। आत्मा है वह द्रष्टा है और जागृत आत्मा है वह योग्य द्रष्टा है। योग्य द्रष्टा की दृष्टि सम होगी अर्थात् समदृष्टि समर्थ दृष्टि होती है। यह विराट विश्व है वह दृश्य है जिसका कि द्रष्टा को दर्शन करना है। दर्शन मायावी न हो—यथार्थ हो इसके लिये द्रष्टा अथवा दृष्टि और दृश्य के बीच के आवरण दूर करने की समस्या है, जिसका समाधान निकालने के लिये आवरणो को जानना और पहिचानना है। जैसे आँख को धूप से बचाने के लिये रगवाला ठडा चश्मा लगाते हैं—उस समय आँख दृश्य को उसी रग मे देख सकती है जिस रग मे चश्मा दिखाता है। दृश्य को उस दशा मे वह उस रग मे नही देख सकती, जिस रग मे स्वय दृश्य है। वह उस रग मे भी नही देख सकती जिस रग की उसकी स्वय की दृष्टि है। यह चश्मे का असर होता है।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप पर कर्मों के जब आवरण चढ जाते हैं तो द्रष्टा रूप उसके और दश्य के बीच ये आवरण आ जाते हैं। सबसे अधिक असरदार आवरण होता है मोह कर्म का। मोह ममत्व का प्रतीक है। जो मेरा है वह सबका नही हो सकता और जो मेरा है, उसे मे ही भोगू गा—यह ममत्व की मतिहीनता होती है। समस्त दु खो का क्रम मतिहीनता से ही आरम्भ होता है। सारे आवरणो को यदि एक ही शब्द मे पिरोना है तो वह शब्द है ममता, जो ममता का विपर्यय है। आत्मा जब समत्व के चश्मे से देखती है तो ममत्व सारे दृश्य को अपने रग मे रग कर ही दिखाता है क्योकि आत्मा का शुद्ध स्वरूप समत्वमय होता है। समदृष्टि और समभाव उसके अग हैं। जब तक ममता का आवरण नही हटता है, न द्रष्टा यथावत् देख सकता है, न दृष्टि यथावत् रहती है और वैसी स्थिति मे न दृश्य यथावत् रूप मे स्पष्ट होता है।

समता का विकास ममता को क्षीण कर देता है, तब समभाव द्रष्टा को योग्य बनाता है तो समदृष्टि सामर्थ्य की सीमा मे आगे बढती है। तब जो जैसा है, जहाँ है, जिस रूप मे है, वह वैसा ही, वहाँ ही, उस रूप मे ही यथावत् दिखलाई देने लगता है। विभिन्न रूपो के भीतर मे एव विभिन्न आवरणो के पीछे एक तत्त्व जो आन्तरिकता मे अगडाई लेता है तथा बाहर की जो समग्र

परिस्थितियो का सचालन करता है, उस तत्त्व को भी यथावत् रूप मे देखने की क्षमता यथार्थ समता-दर्शन से ही प्राप्त हो सकती है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार यह तत्त्व आत्मा है जो स्वय को भी और ससार को भी अपनी समर्थ दृष्टि से योग्य द्रष्टा वन कर ही देख सकती है। आत्म स्वरूप एव विश्व स्वरूप दोनो ऐसे द्रष्टा और दृष्टि के लिये दृश्य वन जाते हैं, जिनका दर्शन यथावत् और यथार्थ रूप मे समता के धरातल पर ही सम्भव होता है।

आत्मा के देदीप्यमान स्वरूप का दर्शन

इस विराट् विश्व की जो सजीवता है, उस का मूलाधार आत्म तत्त्व मे ही सन्निहित है। विश्व की भवि आत्माओ के समूह आन्तरिक दृष्टि से यदि समता के समरस मे तैरने लगें तो इस सासारिकता के बीच मे भी आध्यात्मिकता का रग गहरा हो सकता है। समता-दर्शन की मार्मिकता इसी मे है कि जो जैसा है या जो जहाँ है, उसको उसके यथार्थ रूप मे देखने की चेष्टा की जाय। आत्माओ के वीच मे समता का सूत्र जितना अधिक सुदृढ़ वन सकेगा, उतनी ही समाज की वाह्य एव आन्तरिक व्यवस्था मे समता की व्यापकता विस्तृत वन सकेगी।

आत्मा के देदीप्यमान स्वरूप का दर्शन समता की ऐसी ही आन्तरिक दृष्टि से किया जा सकेगा अर्थात् द्रष्टा अपनी दृष्टि का सम्यक् विकास करके उस दृष्टि से स्वय को भी देखेगा और समस्त विश्व को भी देखेगा। यही आत्मा का देदीप्यमान स्वरूप होता है। आवरण-हीनता ऐसे दर्शन के लिये आवश्यक शर्त है। ममता भागे तो समता जागे।

सासारिक आत्मा के मूल स्वरूप पर कर्मों के आवरण चढे होते हैं जिनकी परतें हटती-वदलती रहती हैं, मगर आवरण नही हटते। आवरणो को हटाने के लिये गहरे पुरुषार्थ की अपेक्षा होती है ताकि उसके वल पर समूचे आवरणो को क्रमिक गति से दूर किया जा सके। आवरण-हीनता से ही आत्म स्वरूप प्रकाशित होता है। परन्तु पुरुषार्थ काल मे दृष्टि का विकास होता रहता है। समता के आविर्भाव से दृष्टि मोह की विषमता त्याग देती है और समता को अपने मे समा लेती है। ममता दृष्टि घटती जाय और समता वढती जाय, उसमे ही दृष्टि का विकास आकलित किया जा सकेगा। दृष्टि का पर्याप्त विकास ही एक दिन द्रष्टा को योग्य बना देता है। द्रष्टा का

दृष्टि रूप साधन जब शुद्ध हो जाता है तो द्रष्टा का उसमे देखना भी शुद्ध बन जाता है। इस प्रकार जब द्रष्टा अपने सही स्वरूप का अवलोकन कर लेगा तो वह समस्त विश्व को भी अपने सम स्वरूप की दृष्टि से ही देखेगा। यह समता दर्शन जितना उत्कृष्ट बनता जायगा, आत्मा-द्रष्टा का स्वय का स्वरूप भी देदीप्यमान होता जायगा।

जब सर्वत्र सही स्वरूप का यथावत् अवलोकन होगा, तभी व्यक्ति-व्यक्ति के बीच मे बाह्य एव आभ्यन्तर समता की स्थापना एव प्रगति सम्भव हो सकेगी। समर्थ दृष्टि ही व्यक्तियो के हृदयो मे रही हुई विषमताओ को जान सकेगी, पहिचान सकेगी और सुलझा सकेगी। तब आवरणो से जन्मी भ्रान्त धारणाएँ एव कु ठाएँ स्वत ही विलीन हो जायेंगी। जिस दृष्टि मे समत्व के साथ गूढता का विकास हो जाता है, वह उलझनो, धारणाओ और कुण्ठाओ को भी उनके यथार्थ रूप मे समझ लेती है। वह दृष्टि खतरो से दूर हटाती है तो प्रकाश एव जीवन की दिशा मे आगे बढाती है।

आत्म तत्त्व के ये दोनो पक्ष ज्ञेय हैं कि एक आत्मा ससारी आत्मा है जिसके मूल स्वरूप पर मोहनीय आदि आठो कर्मों के न्यूनाधिक आवरण चढे हुए है और उन आवरणो के कारण इस आत्मा का आलोकमय मूल स्वरूप दबा हुआ है। इसी तत्त्व का दूसरा पक्ष है—सिद्ध आत्मा। सम्पूर्ण आवरणो को हटा कर जब एक आत्मा अपने मूल स्वरूप को सम्पूर्णतया आलोकमय बना देती है तो वह सिद्ध हो जाती है। सिद्ध स्थिति ही आत्मोन्नति का चरम लक्ष्य माना गया है। इस स्थिति पर, समता भी अपने अन्तिम उत्कर्ष तक पहुँच जाती है। आत्म तत्त्व की यही विकास यात्रा कहलाती है कि वह अपने आवरणो के बन्धनो से मुक्त होती हुई सम्पूर्ण आलोक की दिशा मे गति करे।

समता की दृष्टि से चेतना की सुलझन

साधन सुधरता है तो साध्य समीप आ जाता है और दृष्टि का विकास होता है तो द्रष्टा भी सम्भल जाता है। अविकसित दृष्टि की दशा मे जब द्रष्टा स्वय को भी नही देख पाता और विश्व को भी नही देख पाता उनके यथार्थ रूप मे, तो चेतना भी उलझी हुई ही पडी रह जाती है। समता

से जब दृष्टि समर्थ बनती है तो वह चेतना को सुलझा देती है याने कि द्रष्टा जागृत होकर सन्नद्ध हो जाता है।

सच पूछें तो चेतना की उलझन ही समग्र बाह्य वातावरण को भी उलझा कर रख देती है। आन्तरिक उलझनो के परिणामस्वरूप ही मानव जाति विभिन्न वर्गों, दलो, जातियो और सम्प्रदायो मे बट जाती है जो परस्पर सघर्षशील रहकर सबके लिये दु खो की सृष्टि करती रहती हैं। इनके मूल मे विषमता ही सक्रिय होती है। ममता सबके मनो को उलझाती है, विषम बनाती है और सारे दु खो की सृष्टि करती है।

जब द्रष्टा अयोग्य होता है और उसकी दृष्टि विषम होती है, तब दर्शन भी दोष युक्त होता है और दृश्य अपरूप दिखाई देता है। यही कारण है कि दृष्टि विकास को प्राथमिकता दी जानी चाहिये जो समता से समरस होकर ही किया जा सकता है। दृष्टि विकास पर ही द्रष्टा, दर्शन और दृश्य की यथार्थता परिलक्षित हो सकेगी। दृष्टि विकास ही चेतना की उलझन को मिटा सकेगा। समता से परिपूरित दृष्टि सारे दु ख-द्वन्द्वो को नष्ट कर देती है क्योकि वह दृष्टि ही सबसे पहले द्रष्टा को सजग बना देती है—चेतना को सुलझा कर स्वरूप दर्शन करा देती है।

सम दृष्टि बनाने तथा बनाये रखने के लिये भीतर-बाहर रही हुई समता एव विषमता की समीक्षा करते रहना चाहिये। इस हेतु सर्वप्रथम अन्तरावलोकन करें कि भीतर समता से कितनी विषमता अधिक है और उसे दूर करके समता की प्राभाविकता कैसे अभिवृद्ध की जा सकती है? भीतर से जब ऐसा प्रयत्न शुरू होगा तो वह भीतर का काम करके ही रुकेगा नही, अपितु वह प्रयत्न पूर्णतया सशक्त होकर बाहर फूटेगा और बाह्य परिस्थितियो को परिवर्तित करने मे जुट जायेगा। बाहर-भीतर जुडा रहता है, उसे अलग-अलग नही किया जा सकता। बाहर का असर भीतर को बनाता-बिगाडता है तो भीतर का विचार भी बाहर कार्य मे फूट कर अपना रग-बदरग दिखाता ही है। इसी कारण भीतर और बाहर की विषमताएँ भी अपनी क्रिया-प्रतिक्रियाओ से परस्पर जुडी रहती हैं और उसी रूप मे भीतर और बाहर की समताओ को भी परस्पर जोडकर दोनो क्षेत्रो मे चेतना की सशक्त

क्रियाशीलता जगाई जा सकती है। यह तभी हो सकता है जब समता-दर्शन मूल मे जीवन्त बन जाय।

अन्तर्मन की ग्रन्थियाँ खोल लीजिये !

सूर्य स्वय प्रकाशमान होता है, उसे अपने प्रकाश के लिये किसी दूसरे की अपेक्षा नही होती। फिर जिस आत्म तत्त्व को सूर्य से भी अधिक तेजस्वी माना गया है, आखिर उसी की चेतना इतनी चचल और अस्थिर क्यो बन जाती है ?

निज स्वरूप को विस्मृत कर देने के कारण ही चेतना शक्ति सज्ञा-हीनता से दुर्बल हो जाती है। उसका कितना अमित सामर्थ्य है—उस को भी वह भूल जाती है। वह क्यो भूल जाती है ? कारण, वह अपने मूल से उखड कर अपनी सीमाओ और मर्यादाओ से बाहर भटक जाती है और उन तत्त्वो के वशीभूत हो जाती है, जिन तत्त्वो पर उसे शासन करना चाहिये। यह परतन्त्रता आत्म-विस्मृति से अधिकाधिक जटिल होती चली जाती है। जितनी अधिक परतन्त्रता, उतनी ही अधिक ग्रन्थियाँ मन को जकडती रहती हैं। जितनी अधिक ग्रन्थियाँ उतना ही मन बन्धनग्रस्त होता चला जाता है। इस लिये दृष्टि का विकास करना है और चेतना को सुलझानी है तो अन्तर्मन की सारी ग्रन्थियाँ खोल लीजिये।

विषमता की प्रतीक स्वरूप विभिन्न ग्रन्थियाँ मानव-मन मे मजबूती से बन्ध जाती हैं और विचारो के सहज प्रवाह को जकड लेती हैं। जब तक इन ग्रन्थियो को खोल न सकें तब तक आन्तरिक विषमता समाप्त नही होती है और आन्तरिक विषमता रहेगी तो बाह्य विषमता के नानाविध रूप फूलते फलते रहेगे एव दु ख द्वन्द्वो की ज्वाला जलती रहेगी। व्यक्ति-व्यक्ति की इन आन्तरिक ग्रन्थियो को खोले बिना चाहे हजार-हजार प्रयत्न किये जाय या आन्दोलन चलाए जायें, बाहर की राजनैतिक, आर्थिक अथवा अन्य समस्याएँ सन्तोषजनक रीति से सुलझाई नही जा सकेंगी। मन सुलझ जाय तो फिर वाणी और कर्म के सुलझ जाने मे अधिक विलम्ब नही लगेगा।

अधिकाश अवसरो पर यही विडम्बना सामने आई है कि आन्तरिक उलझनो के कारणो को समझे बिना बाहर की समस्याओ के समाधान खोजने

मे विफलता का सामना करना पडता है। इतिहास साक्षी है कि इस दिशा मे कैसे-कैसे प्रयत्नो के साथ क्या-क्या परिणाम सामने आये हैं ? सत्य तो यह है कि ये प्रयत्न समता की अपेक्षा विषमता के मार्ग पर ही अधिक चले और असफल होते रहे। इन्ही उलझनो के कारण मानव जाति के बीच अशान्ति की ज्वाला भी धूँ-धूँ करके जलती रही है। आध्यात्मिकता के अनुशासन के बिना भौतिक विज्ञान के विकास ने भी आज के मानव को आत्म-विस्मृत बना दिया है। इस भावना शून्य भौतिक विकास ने मानव मन मे उद्दण्ड महत्त्वाकाक्षाओ को जन्म दिया है तथा आत्मा की आन्तरिकता पर आवरणो की अधिक परते चढा दी है। इस कारण मनुष्य अपनी अन्तरात्मा के स्वरूप से बाहर ही बाहर भटकते रहने को विवश हो गया है। विषमता सभी सीमाएँ तोड रही हैं—यह स्थिति समता दर्शन के लिये प्रबल प्रेरक मानी जानी चाहिये।

बस-मूल की भूल को पकड़ लें!

आदि युग मे प्रधानतया इस चेतना के दो परिणाम आत्म-पर्यायो की दृष्टि से सामने आये है। एक पशु जगत् का तो दूसरा मनुष्य जगत् का। पशु जगत् अब भी उसी पाशविक दशा मे है जबकि मानव जगत् ने कई दिशाओ मे उन्नति की है। आकाश के ग्रहो-उपग्रहो को छू लेने के उसके प्रयास उसकी चेतना शक्ति के विकास के प्रतिफल के रूप मे देखे जा सकते हैं किन्तु वस्तुत उसकी ऐसी चेतना शक्ति एव उसकी विकास-गति पर तत्त्वो के सहारे चल रही है—स्वाश्रयी या स्वतन्त्र नही है। चेतना शक्ति के इस प्रकार के विकास ने अपनी ही सार्वभौम सत्ता को जड तत्त्व के अधीन गिरवी रख दी है। अधिकाश मानव मस्तिष्क जड तत्त्वो की अधीनता मे—उनकी एक छत्र सत्ता मे अपने आपको आरोपित करके चल रहे हैं। यही तथ्य है जिससे समस्याएँ दिन-प्रतिदिन जटिलतर बनती जा रही हैं। यद्यपि अलग-अलग स्थलो पर समता भाव के सदृश समाजवाद, साम्यवाद आदि विचार सामने आये है जो अधिकतम जनता के अधिकतम सुख को प्रेरित करने की बात कहते हैं; किन्तु इन विचारो की पहुँच भी भीतर मे नही है। बिना आत्मावलोकन किये तथा भीतर की ग्रन्थियो को खोले—बाहर की समस्याओ का समाधान सम्भव

नही है । समता दर्शन की दृष्टि से यह सब मूल की भूल को न पकड पाने के कारण दुखद हो रहा है ।

वर्तमान ससार मे अधिकाशत जो कुछ हो रहा है, वह बाहर ही बाहर हो रहा है । उसमे भीतर की खोज नही है । जहाँ तक मैं सोचता हूँ, मेरी दृष्टि मे ऐसे सारे प्रयत्न मूल मे भूल के साथ हो रहे हैं । मूल को छोडकर यदि केवल शाखा-प्रशाखाओ को थामकर रखा जाय तो वैसी पकड भ्रामक भी होगी तो निष्फल भी । इसे ही मूल की भूल कहते हैं क्योकि मूल पर पकड न रहने से आगे की गति मे भूलें ही भूलें होती रहती हैं तथा धीरे-धीरे आत्मविस्मृति के कारण उन्हे परख लेने की क्षमता भी क्षीण होती चली जाती है । इसलिये प्रारम्भ से ही मूल की भूलो को नही पकडेंगे और उन्हे नही सुधारेंगे तो सिर्फ टहनियो और पत्तो को सवारने से पेड को हरा-भरा नही रख पायेंगे ।

इस मूल की भूल को ठीक से समझ लेने की आवश्यकता है । वस्तुत आज लक्ष्य की ही भ्रान्ति है । आज अधिकाश लोगो ने जो मुख्य लक्ष्य बना रखा है वह शायद यह है कि अधिकाधिक सत्ता और सम्पत्ति पर हमारा ही आधिपत्य स्थापित हो । ममता भरी ऐसी लालसा उनके मन मे तेजी से उमडती-घुमडती है । सत्ता और सम्पत्ति—ये बाहरी तत्त्व हैं जो आन्तरिक शक्ति को उजागर बनाने मे बाधा रूप ही हैं । जब चेतना बाधाओ को झोली मे समेटती जाय तो यह मूल की भूल हुई कि नही ? बाधाओ को हटाने के लिये गति दी जाती है, उन्हें समेटने के लिये नही । उसमे तो दुर्गति होती है । अगर मूल की भूल पकड लें कि ममता मन को बिगाडती है और समता सुधारती है तो ममता के तानो-बानो मे नही उलझेंगे । आत्माभिमुखी बन कर ही मनुष्य अपने बाहरी जगत् के कर्त्तव्यो का भी सही निर्धारण कर सकता है क्योकि उस निर्धारण मे ससार के सभी प्राणियो के प्रति समता-भाव का अस्तित्व होता है । मूल मे समता रहेगी तो मूल को देखकर बाद की किसी भी भूल को सुधारना सरल हो जायगा ।

शक्ति के नियन्त्रण से ही उसका सदुपयोग

चैतन्य प्राणियो मे शक्ति का प्रवाह तो निरन्तर बह रहा है जिसमे दोनो प्रकार की शक्तियाँ—भौतिक एव आध्यात्मिक सम्मिलित हैं । दोनो

प्रकार की इन प्रवहमान शक्तियो को बाधकर जीवन-विकास की दिशा मे उनका पूरा सदुपयोग किया जा सकता है। वर्षा का खुला पानी चारो ओर बिखर कर बरबाद हो जाता है, मगर यदि उसी पानी को—नदियो या नालो को रोककर बाध ले और बाध बना लें तो उस बधे हुए पानी का कई रीतियो से मानव समाज अपने लिये सदुपयोग कर सकता है। शक्ति बिखर जाती है तो टूट जाती है और शक्ति बन्ध जाती है तो सुख का साधन हो जाती है।

यहाँ प्रश्न शक्ति के नियन्त्रण एव उसके सदुपयोग का ही है ताकि वह शक्ति सच्चा विकास सम्पादित करा सके। चेतना शक्ति के लिये भी यही प्रश्न है। पर तत्त्वो के पीछे भागते रहने से तथा विषमताओ मे ग्रस्त हो जाने से चेतना शक्ति लु जपु ज हो रही है और बिखर रही है—इस कारण प्रभावहीन हो रही है—निरुपयोगी बन रही है। मूल की भूल को पकड कर यदि चेतना शक्ति सच्चे अर्थ मे योग्य द्रष्टा बन जाय तो उसकी शक्ति नियन्त्रित भी हो जायेगी और एकरूप भी बन जायेगी। तब उसकी प्राभाविकता एव उपयोगिता अपरिमित हो जायगी। अनियन्त्रित मन भटकाव मे हजार जगहो पर उलझता है तो हजार तरह की गाठें बाध लेता है। यदि दृष्टि समर्थ बन जाय तो मन का नियन्त्रण भी सहज हो जायेगा क्योकि समता के समागम से समर्थ दृष्टि द्रष्टा को भी योग्य बना देगी। वह द्रष्टा तब जड तत्त्वो की अधीनता छोड देगा और स्वय उनका भी और निज का भी कुशल नियन्त्रक ब। जायगा। मानव मन बदला तो समझिये कि व्यक्ति-व्यक्ति मे यह शुभ परिवर्तन चल निकलेगा जो समाज, राष्ट्र एव विश्व तक की परिस्थितियो को समता के ढाचे मे ढाल कर सबके लिये उन्हे सुखकर एव हितकर बना देगा।

केवल एकसूत्री कार्यक्रम समता दर्शन

इस प्रकार के सुखद परिवर्तन की दशा मे जो बाह्य समस्याएँ पहले जटिल दिखाई दे रही थी, वे आसान हो जायेंगी। जो विकृत दृष्टि पहले अपने स्वार्थ ही देखती थी, वह सम बन कर अपने आत्म स्वरूप को देखेगी तो बाहर परहित को ही प्रमुखता देगी। ज्यो-ज्यो हृदय की गहराइयो मे

समता का उत्कर्ष बढता जायगा, लोकोपकार के लिये अपने सर्वस्व तक की वलि कर देने मे भी कोई हिचक नही होगी।

समता-दर्शन कें केवल एक सूत्री कार्यक्रम के आधार पर न सिर्फ व्यक्ति के अन्तर्मन और जीवन मे जागृति की ज्योति फैलेगी वल्कि सामाजिक, राष्ट्रीय एव विश्वजनीन जीवन मे भी क्रान्तिकारी सुखद परिवर्तन लाये जा सकेंगे। 'चेतन पर जड को हावी न होने दें'—यह मूल मत्र है। फिर मोह का कोई व्यवधान नही रहेगा। समता दर्शन का प्रकाश सभी प्रकार के अन्धकार को नष्ट कर देगा।

जीवन मे समता के विकास की आधारशिला वनाइये। श्रेष्ठ सस्कारो को— जो इतने प्रगाढ हो कि एक पीढी से दूसरी पीढी मे पल्लवित-पुष्पित होते हुए इस तरह श्रीवृद्धि करते जाय कि सासारिक जीवन का क्रम ही अवाध रूप से समतामय वन जाय। ऐसी सभ्यता और सस्कृति का वातावरण छा जाय जो मानव जाति ही नही, समस्त प्राणी समाज के साथ सहानुभूति एव सहयोग की सक्रियता को स्थायी वना दे।

विश्व-दर्शन तभी सार्थक है जव योग्य द्रष्टा अपनी समर्थ दृष्टि के माध्यम से सम्पूर्ण दृश्य को समतामय वना सके। यथावत् स्वरूप दर्शन से ही समता का स्वरूप प्रतिभासित हो सकेगा।

मूल समस्या है दृष्टि विकास की। यह विकास समता दर्शन की गूढता मे रग कर ही साधा जा सकेगा। दृष्टि इस रूप मे विकसित होगी तभी सामर्थ्य ग्रहण करेगी और अपने द्रष्टा को स्वरूप-दर्शन की योग्यता प्रदान करेगी। मूल रूप मे ममता से हटने पर ही दृष्टि विकास का कार्यारम्भ हो सकेगा। स्वरूप दर्शन से परिवर्तन की प्रेरणा मिलती है। एक दर्पण को इतना स्वच्छ होना चाहिये कि उसमे कोई भी आकृति स्पष्टता से प्रतिविम्वित हो सके। किन्तु कोई दर्पण ऐसा है या नही—उसे देखने से ही ज्ञात होगा। यथावत् देखने से जब मैला रूप दिखाई देगा तो उसे धो पौछकर साफ वना लेने की प्रेरणा भी फूटेगी। विकासोन्मुख होने की पहली सीढी स्वरूप दर्शन है। चाहे वह निजात्मा का हो या विश्व का। स्वरूप दर्शन से स्वरूप सशोधन की ओर चरण अवश्य बढते हैं और समुच्चय मे समता दर्शन का यही सुफल है।

: ४ :

समता दर्शन : अपने नवीन परिप्रेक्ष्य में

समता, साम्यता या समानता मानव जीवन एव मानव समाज का शाश्वत दर्शन है। आध्यात्मिक या धार्मिक क्षेत्र हो अथवा आर्थिक, राजनैतिक या सामाजिक—सभी का समता लक्ष्य है, क्योकि समता मानव-मन के मूल मे है। इसी कारण कृत्रिम विषमता की समाप्ति और समता की अवाप्ति सभी को अभीष्ट होती है। जिस प्रकार आत्माएँ मूल मे समान होती हैं किन्तु कर्मों का मैल उनमे विभेद पैदा करता है और जिन्हे सयम और नियम द्वारा समान बनाया जा सकता है, उसी प्रकार समग्र मानव समाज मे भी स्वस्थ नियम प्रणाली एव सुदृढ सयम की सहायता से समाजगत समता का भी प्रसारण किया जा सकता है।

आज जितनी अधिक विषमता है, समता की माग भी उतनी ही अधिक गहरी है। काश! कि हम उसे सुन और महसूस कर सकें तथा समता दर्शन के विचार को व्यापक व्यवहार मे ढाल सकें। विचार पहले और बाद मे उस पर व्यवहार—यही क्रम सुव्यवस्था का परिचायक होता है।

वर्तमान विषमता के मूल मे सत्ता व सम्पत्ति पर व्यक्तिगत या पार्टीगत लिप्सा की प्रबलता ही विशेष रूप से कारणभूत है और यही कारण सच्ची मानवता के विकास मे बाधक है। समता ही इसका स्थायी व सर्वजन हितकारी निराकरण है।

समता दर्शन का लक्ष्य है कि समता, विचार मे हो, दृष्टि और वाणी मे हो तथा समता, आचरण के प्रत्येक चरण मे हो। तब समता, जीवन के

अवसरो की प्राप्ति मे होगी, सत्ता और सम्पत्ति के अधिकार मे होगी और इस प्रकार वह व्यवहार के समूचे दृष्टिकोण मे होगी। समता, मनुष्य के मन मे, तो समता समाज के जीवन मे। समता भावना की गहराइयो मे, तो समता साधना की ऊँचाइयो मे। प्रगति के ऐसे उत्कृष्ट स्तरो पर फिर समता के सुप्रभाव से मनुष्यत्व तो क्या— ईश्वरत्व भी समीप आने लगेगा।

विकासमान समता दर्शन

मानव जीवन की प्रक्रिया गतिशीलता से अनुवद्ध है। उसके मस्तिष्क मे नये नये विचारो का उदय होता है। ये विचार प्रकाशित होकर अन्य विचारो को आन्दोलित करते हैं। फिर समाज में विचारो के आदान-प्रदान एव सघर्ष-समन्वय का क्रम चलता है। इसी विचार मन्थन मे से विचार-नवनीत निकालने का कार्य युग-पुरुप किया करते हैं।

कहा जाता है कि समय वलवान होता है। यह सही है कि समय का वल अधिकाशत लोगो को अपने प्रवाह मे वहाता है, किन्तु समय को अपने पीछे करने वाले ये ही युग पुरुप होते हैं जो युगानुकूल वाणी का उद्घोप करके समय के चक्र को दिशा-दान करते है। इन्ही युगपुरुपो एव विचारको के आत्म-दर्शन से समता दर्शन का विकास होता आया है। इस विकास पर महापुरुपो के चिन्तन की छाप भी है तो समय-प्रवाह की छाप भी। और जव आज हम समता दर्शन पर विचार करें तो यह ध्यान रखने के साथ कि अतीत मे महापुरुपो ने इसके सम्वन्ध मे अपना विचार-सार क्या दिया है—यह भी ध्यान रखने की आवश्यकता होगी कि वर्तमान युग के सन्दर्भ मे और विचारो के नवीन परिप्रेक्ष्य मे आज हम समता दर्शन का किस प्रकार स्वरूप-निर्धारण एव विश्लेपण करें ?

महावीर की समता-धारा

ऐतिहासिक अध्ययन से यह तथ्य सुस्पष्ट है कि समता दर्शन का सुगठित एव मूर्त विचार सवसे पहले भगवान् पार्श्वनाथ एव महावीर ने दिया। जव मानव समाज विपमता एव हिंसा के चक्रव्यूह मे फसा तडप रहा था, तव महावीर ने गम्भीर चिन्तन के पश्चात् समता दर्शन की जिस पुष्ट

धारा का प्रवाह प्रवाहित किया, वह आज भी युग परिवर्तन के बावजूद प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। इन विचारधारा और उनके बाद जो चिन्तन धारा चली है—यदि दोनो का सम्यक् विश्लेषण करके आज समता-दर्शन की स्पष्टता ग्रहण की जाय और फिर उसे व्यवहार मे उतारा जाय तो निस्सन्देह मानव समाज को सर्वांगीण समता के पथ की ओर मोड़ा जा सकता है।

महावीर ने समता के दोनो पक्षो—दर्शन एव व्यवहार को समान रूप से स्पष्ट किया तथा वे सिद्धान्त बता कर ही नही रह गये किन्तु उन्होंने उन सिद्धान्तो को साथ ही साथ स्वयं क्रियात्मक रूप भी दिया। महावीर के बाद की चिन्तनधारा का सही अध्ययन करने के लिये पहले महावीर की समता धारा को ठीक से समझ लें—यह अधिक उपयुक्त रहेगा और समता दर्शन को आज उनके नवीन परिप्रेक्ष्य मे परिभाषित करने मे अधिक सुविधा रहेगी।

'सभी आत्माएँ समान हैं' का उद्घोष

महावीर ने समता के मूल बिन्दु को सबसे पहिले पहिचाना और बताया। उन्होंने उद्घोष किया कि सभी आत्माएँ समान हैं याने कि सभी आत्माओ मे अपना सर्वोच्च विकास सम्पादित करने की समान शक्ति रही हुई है। उस शक्ति को उद्घाटित एवं विकसित करने की समस्या अवश्य है, किन्तु लक्ष्य प्राप्ति के सम्बन्ध मे हताशा या निराशा का कोई कारण नही है। इसी विचार ने यह स्थिति स्पष्ट की कि जो आत्मा सो परमात्मा अर्थात् ईश्वर कोई अलग शक्ति नही, जो सदा से केवल ईश्वर रूप मे ही रही हुई हो बल्कि संसार मे रही हुई आत्मा ही अपनी साधना से जब उच्चतम विकास साध लेती है तो वही परम पद पाकर परमात्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। वह परमात्मा सर्व शक्तिमान् एवं पूर्ण ज्ञानवान तो होता है, किन्तु संसार से उसका कोई सम्बन्ध उस अवस्था मे नही रहता।

यह क्रान्ति का स्वर महावीर ने गुंजाया कि ससार की रचना ईश्वर नही करता और इसे भी उन्होंने मिथ्या बताया कि ईश्वर की इच्छा के बिना ससार मे एक पत्ता भी नही हिलता। ससार की रचना को उन्होंने अनादि कर्म प्रकृति पर आधारित बताकर आत्मीय समता की जो नीव रखी—उस पर समता का प्रासाद खडा करना सरल हो गया।

सबसे पहले समदृष्टि

आत्मीय समता की आधारशिला पर महावीर ने सन्देश दिया कि सबमे पहले समदृष्टि बनो। इसे उन्होंने जीवन विकास का मूलाधार बताया। समदृष्टि का शाब्दिक अर्थ है समान नजर रखना, लेकिन इसका गूढार्थ बहुत गम्भीर और विचारणीय है।

मनुष्य का मन जब तक सन्तुलित एव सयमित नही होता तब तक वह अपनी विचारणा के घात-प्रतिघातो मे टकराता रहता है। उसकी वृत्तियां चचलता के उतार चढावो मे इतनी अस्थिर बनी रहती हैं कि सद् या असद् का उसे विवेक नही रहता। आप जानते हैं कि मन की चचलता राग और द्वेष की वृत्तियो से चलायमान रहती है। राग इस छोर पर तो द्वेष उस छोर पर मन को इधर-उधर भटकाते हैं। इसमे मनुष्य की दृष्टि विषम बनती है। राग वाला अपना और द्वेष वाला पराया तो अपने और पराये का जहाँ भेद बनता है वहाँ दृष्टि-भेद रहेगा ही।

महावीर ने इस कारण मानव-मन की चचलता पर पहली चोट की क्योंकि मन ही तो बन्धन और मुक्ति का मूल कारण होता है। चचलता राग और द्वेष को हटाने से हटती है और चचलता हटेगी तो विषमता हटेगी। विषम दृष्टि हटने पर ही समदृष्टि उत्पन्न होगी।

दृष्टि से पहले वृत्ति ढलती है और दृष्टि के बाद कृति का निर्माण होता है। सम वह गुण है जो मूल मे पैदा होकर पल्लव तथा पुष्प तक प्रतिफलित होता है। विचारो मे समत्व का बोध जब समा जाता है तो उससे दृष्टि मे समत्व की सृष्टि होती है। जो समभाव से सोचता है वही समभाव से देखता है और जो समभाव से देखता है, वही समभाव से प्रत्येक कार्य को सम्पन्न भी करता है। इन तीनो स्थितियो के मध्य मे होती है समदृष्टि जो एक ओर समवृत्ति तो दूसरी ओर समकृति को सयोजित करती है। इसी प्रकार यदि इन तीनो स्थितियो मे समत्व के स्थान पर विषमता का फैलाव है—विचारो मे विषमता, दृष्टि मे विषमता और कृति मे विषमता है तो उसे मिथ्यादृष्टि कहेगे। विषमता मिथ्या होती है और समता सम्यक्। समता के

प्रवेश को सम्यक्त्व का श्रीगणेश कह सकते हैं। जहाँ सम्यक्त्व का श्रीगणेश हो गया है, वहाँ समदृष्टि का विकास सम्भव है।

गुणाधारित आत्म विकास का जो क्रम बताया गया है, उसमे समदृष्टि अथवा समदर्शिता आधारगत कडी मानी गई है, क्योंकि समदृष्टि के विकसित हो जाने के पश्चात् ही श्रावकत्व एव साधुत्व की उच्चतर श्रेणियो मे प्रवेश हो सकता है। इन्ही श्रेणियो मे समता की साधना उत्कृष्टतर स्वरूप ग्रहण करती हुई परिपूर्णता की दिशा मे अग्रसर बनती है। भीतर मे समता का विकास ज्यो-ज्यो परिपूर्ण बनता जाता है, त्यो-त्यो उसका अनुकूल प्रभाव बाहर भी फैलता जाता है।

अत सबसे पहले समदृष्टिपना आवे—यह वाछनीय है, क्योंकि समदृष्टि जो बन जायगा तो वह स्वय तो समता पथ पर आरूढ होगा ही किन्तु अपने सम्यक् ससर्ग से वह दूसरो को भी विषमता के चक्रव्यूह से बाहर निकालेगा। इस प्रयास का प्रभाव जितना व्यापक होगा उतना ही व्यक्ति एव समाज का सभी क्षेत्रो मे चलने वाला व्यवस्था क्रम सही दिशा की ओर परिवर्तित होने लगेगा।

श्रावकत्व एव साधुत्व की उच्चतर श्रेणियाँ

समदृष्टि होना समता के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का समारम्भ मात्र है। फिर महावीर ने कठिन क्रियाशीलता का क्रम बनाया। समतामय दृष्टि के बाद समतामय आचरण की पूर्ति के लिये दो स्तरो की रचना की गई।

इसमे पहला स्तर रखा श्रावकत्व का। श्रावक के बारह अणुव्रत बताये गये हैं जिनमे पहले के पाच मूल गुण कहलाते है एव शेष सात उत्तर गुण। मूल गुणो की रक्षा के निमित्त उत्तर गुणो का निर्धारण माना जाता है। मूल पाच व्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह। अनुरक्षक सात व्रत हैं—दिशा-मर्यादा, उपभोग-परिभोग-परिमाण, अनर्थदण्ड त्याग, सामायिक, देशावकासिक, प्रतिपूर्ण पौषध एव अतिथि-सविभाग व्रत।

श्रावक की अहिंसा उसके जीवन को सयमित बनाती है कि वह मनसा, वाचा कर्मणा अन्य निरपराध-निरपेक्ष प्राणो को कष्ट नही पहुँचावे। इसका यह अर्थ है कि वह ससार के सभी जीवो को समदृष्टि से देखे तथा अपने स्वार्थों को दूसरो के हितो पर हावी न होने दे। रोषवश गाढा बन्धन बाधने, गाढा घाव लगाने, अवयव का छेद करने, अधिक भार भरने तथा भात-पानी का विच्छेद करने के अतिचारो के पीछे भावना यही है कि एक श्रावक की समदृष्टि समकृतित्व मे विकसित होती जाय। वह न सिर्फ अपने मानव साथियो की बल्कि पशु-पक्षियो व समस्त प्राणियो की सुख-सुविधा के प्रति भी सजग रहे। झूठ को स्थूल रूप से छोडने के बारे मे भी उसके लिये सह-साकार मे किसी के प्रति झूठा दोष देने, गुप्त बात प्रकट करने, स्त्री-पुरुष के मर्म प्रकाशित करने झूठा उपदेश देने तथा झूठा लेख लिखने को अतिचार माना गया है। चोर की चुराई हुई वस्तु लेने, चोर की सहायता करने, राज्य विरुद्ध काम करने, माप तोल मे कमी-बेशी करने एव वस्तु मे मिलावट करने को श्रावक के लिये अतिचार मानने का स्पष्ट अभिप्राय यही लगता है कि श्रावक का जीवन सार्वजनिक एव सामाजिक दृष्टि से सच्चा बने। अस्तेय व्रत का सामान्य सा अर्थ ही नही माना गया है कि वह चोरी नही करे, बल्कि चोरी (आज के व्यापक अर्थ मे शोषण से लेकर उपनिवेशवाद तक की आर्थिक प्रक्रिया चोरी मे ही शामिल मानी जायगी) को किसी भी रूप मे प्रोत्साहन न दे और न ही चोरी के किसी रूप का सामाजिक व्यवहार मे प्रचलन होने दे। सामाजिक सदाचार के अलावा ब्रह्मचर्य को भी एक श्रावक के जीवन मे बडा महत्त्व दिया गया है और इसी कारण उसके चौथे व्रत का नाम है स्वदार सन्तोष अर्थात् मैथुन सम्बन्धी सन्तोष उसे अपनी पत्नी की मर्यादा मे ही लेना होगा, शेष ससार की समस्त महिलाओ को वह अपनी माँ, बहिन, बेटी समझे। पर-स्त्री से गमन करने, कुमारी, विधवा या अपरिग्रहिता स्त्री से गमन करने, काम-क्रीडा करने, दूसरो के विवाह सम्बन्ध जुडाने तथा काम भोग की तीव्र अभिलाषा करने को इस दृष्टि से श्रावक के चौथे व्रत के अतिचार बताये गये हैं कि वह स्व-पत्नी सन्तोष के होते हुए भी काम वासनाओ पर समुचित नियन्त्रण करने की चेष्टा रखे।

श्रावक के पाचवें परिग्रह परिमाण व्रत एव सातवें उपभोग परिमाण व्रत के सम्बन्ध मे व्यापक सामाजिक दृष्टि से विचार करना होगा। श्रावक

कितना परिग्रह (खेत. वस्तुएँ, सोना, चाँदी, धन, धान्य द्विपद—नौकर आदि, चतुष्पद–पशु वगैरह, सोना-चादी के सिवाय अन्य धातु) तथा कितनी उपभोग (एक वार काम मे आने वाली वस्तुएँ) तथा परिभोग (वार-वार काम मे आने वाली वस्तुएँ) सामग्री अपने पास रखें इसकी उसे स्वेच्छा से सीमा-मर्यादा वाधनी चाहिये। इन व्रतो के पीछे वैयक्तिक भावना तो यह है कि श्रावक अपनी तृष्णा को वढने न दे वल्कि उसे शनै शनै ही सही–घटाता चला जाय, लेकिन इनके पीछे रही हुई सामाजिक या राष्ट्रीय भावना भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। समाज या राष्ट्र मे धन हो या वस्तुएँ—वढती हुई जनसख्या के सन्दर्भ मे कभी भी असीमित रूप से उत्पादित हो—यह कठिनता से ही हो सकता है। अत जव उत्पादन सीमित होता है तो जव तक धन या पदार्थों को एक-एक व्यक्ति द्वारा अपने पास रखने अथवा काम मे लाने की मात्रा को मर्यादित नही वनाया जावे तो उनका समुचित वितरण सभी नागरिको को सम्भव नही हो सकेगा। यदि एक देश या समाज मे उत्पादित धन व वस्तुओ का सभी नागरिको के वीच मे सम या समुचित वितरण नही हो पाता है तो समझिये कि वहाँ आर्थिक विपमता अवश्य फैलेगी और वैसी विपमता फैल कर अवश्य ही अन्य प्रकार की समता—व्यवस्था को भी हानि पहुँचायगी, क्योकि एक गृहस्थ के वाह्य जीवन पर अर्थ व्यवस्था का वड़ा प्रभाव रहता है। यह वडी गहरी वात है कि मर्यादित की जाने वाली उपभोग-परिभोग सामग्री मे न सिर्फ खान-पान की वस्तुएँ ही शामिल की गई हैं, वल्कि पहिनने, विछाने आदि की वस्तुएँ भी शामिल हैं। एक प्रकार से जीवन निर्वाह के करीव-करीव सभी पदार्थ मर्यादा की सूची मे रखे गये हैं जिनमे पीने व नहाने के जल तक की भी सीमा वाँधने का निर्देश है। श्रावक की खाद्य सूची मे विना पकाये या वुरी तरह पकाये आदि कई खाने की चीजो को अखाद्य मानकर उनका उपयोग उसके लिये अतिचार वताया गया है।

श्रावक के अन्य शिक्षा व्रतो मे चारो दिशाओ तथा ऊपर-नीचे आवागमन की भी मर्यादा करने, व्यर्थ के पाप कार्यों को त्यागने, सामायिक तथा पौपध की साधना करने, भूमि उपयोग की सीमा निश्चित करने तथा अतिथियो के लिये सविभाग करने का उल्लेख है, जिनका मुख्य आधार भी श्रावक को अपनी सभी आवश्यकताओ को सीमित वनाने तथा अपने जीवन को अधिकाधिक सयमित वनाने का ही है।

इन वारह व्रतो मे स्वय श्रावक के लिये तथा सम्पूर्ण समाज व राष्ट्र के लिये त्याग एव सयम का ही समावेश किया गया है ताकि व्यक्तिगत व समाजगत जीवन व्यवहार मे समता की दृष्टि सर्वोच्च रहे।

श्रावक के जो पाच मूल व्रत हैं—ये ही साधु के पाच महाव्रत हैं। दोनो मे अन्तर यह है कि जहाँ श्रावक स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, पर-स्त्री-गमन एव असीमित परिग्रह का त्याग करता है, वहाँ साधु सम्पूर्ण रूप से हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन एव परिग्रह का त्याग करता है। नीचे का स्तर श्रावक का है तो साधु त्याग की उच्च श्रेणियो मे रमण करता हुआ समता दर्शन की सूक्ष्म रीति से साधना करता है। महावीर का मार्ग एक दृष्टि से निवृत्ति-प्रधान मार्ग कहलाता है वह इसलिये कि उनकी शिक्षाएँ मनुष्य को जड पदार्थों के व्यर्थ व्यामोह से हटाकर चेतना के ज्ञानमय प्रकाश मे ले जाना चाहती हैं। निवृत्ति का विलोम है—प्रवृत्ति अर्थात् आन्तरिकता से विस्मृत वनकर वाहर ही वाहर मृगतृष्णा के पीछे भटकते रहना। जहाँ यह भटकाव है, वहाँ स्वार्थ है, विकार है और विषमता है। समता की सीमा रेखा मे लाने, वनाये रखने और आगे वढाने के उद्देश्य से ही श्रावकत्व एव साधुत्व की उच्चतर श्रेणियाँ निर्मित की गई।

साधु अथवा श्रमण के उच्च श्रेणीगत जीवन की महती विशेषताएँ होती हैं। विभिन्न सूत्रो के प्रसग से यदि इस भव्य जीवन की विशेषताओ का उल्लेख करें तो सक्षिप्त रूप से वे निम्न होगी—

"एक गुणवान श्रमण का न कोई अपना और न कोई पराया होता है। वह मान अपमान मे भी भेद नही करता। उसकी समग्र वृत्तियाँ, दृष्टियाँ तथा प्रवृत्तियाँ समतामय होती है। वह पवन सदृश स्वाश्रयी तथा आकाश सम अलिप्त होता हैं। ससार या उसके किसी भी पदार्थ को तो छोडिये—उसका अपने स्वय के शरीर पर भी कोई ममत्व नही होता। उसकी प्रत्येक क्रिया विवेक पूर्ण होती है तथा वह जागते हुए तो जागता ही है, किन्तु सोते हुए भी जागता है। एक श्रमण की ऋजुता-मृदुता तथा सम-दर्शिता मे निरन्तर अभिवृद्धि होती रहती है। चाहे सुख हो या दुख, निन्दा हो स्तुति, जीवन हो या मरण, लाभ हो या अलाभ—उसकी भावना सदैव समता

के धरातल पर ही आरूढ रहती है। वह न हर्ष मे गोते लगाता है, न विषाद मे अनुतप्त होता है—वह तो समभाव मे विचरण करता तथा धर्मशुक्ल ध्यानो मे लीन रहता है। यौवन मे श्रमणत्व के पालन को अग्निशिखा के पान की उपमा दी गई है। कितनी ही लब्धियाँ प्राप्त करलें किन्तु श्रमण का अह तनिक भी नही भडकना चाहिये। वह तो प्रतिपल रत्न त्रय—सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य की साधना मे अपने आपको तल्लीन बनाये रखे।.... ..

"वह न जीवन मे आनन्द और न मृत्यु मे भय माने बल्कि तटस्थ वृत्ति से तपाराधन करे ताकि अपने पूर्वाजित कर्मों का क्षय करते हुए मोक्ष की दिशा मे अग्रसर बन सके।......

"एक श्रमण को अपना जीवन निर्वाह निर्ममत्व भाव से भवरे के समान करना चाहिये, जो एक फूल मे नही बल्कि अनेक फूलो से थोडा-थोडा रस लेकर अपनी उदरपूर्ति कर लेता है लेकिन एक भी फूल को तनिक भी कष्ट नही पहुँचाता। इसीलिये साधु की भिक्षाचरी को मधुकरी कहा गया है।" . .. ..

श्रमण वस्तु, व्यक्ति या स्थान से अप्रतिबद्ध रहता है एव ज्ञान व क्रिया के दुपहिये रथ को अथक रूप से चलाता रहता है। उसको चाहे जितने परिषह सहने पडें—किन्तु वह अपनी सयम-स्थिति से कतई विचलित नही होता है। आन्तरिक ताप को त्याग कर वह तप और परमार्थ मे रत रहता है व निरपेक्ष भी। कापायिक वृत्तियो का प्रत्याख्यान करते हुए वह रस लोलुपता छोडता है, निद्रा और प्रमाद को त्यागता है तो असदाचारी मार्ग से बचता है। वह निर्दोष भिक्षा ही लेता हुआ अपने जीवन को विनय, नम्रता, सरलता, विप्रमुक्तता आदि गुणो से सवारे। श्रमण जीवन को भूमि की तरह परम सहनशील माना गया है। उसे न विषय वासना के प्रति तनिक सी भी आसक्ति हो और न वह आहार पर मूर्छा अथवा ममता भरी ग्रन्थियाँ बनावे। उसे योगी, ऋजुदर्शी, निर्ग्रंथ तथा मोक्षसुखाकाक्षी बनना चाहिये। एक श्रमण सारे घटना चक्र कर्माधीन मानता हुआ कभी भी विस्मय मे नही पडता और न कभी अपने को दीन-हीन अनुभव करता है। वह धर्म को पिता, क्षमा को माता, सयम को भ्राता, सत्य को पुत्र, दया को बहिन एव विरक्ति को गृहिणी

मानता है। उसके लिये सभी दिशाएँ वस्त्र, ज्ञानामृत आहार, भूमि शय्या तो ससार परिवार है।"

शास्त्रो मे वर्णित उपरोक्त तथा अन्य विवेचन साधु जीवन की समतामय महानता पर प्रकाश डालता है। वह विषमताओ से पूरी तरह विलग ही नही होता, अपितु निरन्तर दूसरो को उपदेश भी विषमताओ से विलग होते रहने का देता रहता है, और सर्व प्रकारेण समता साधना के अपने आदर्श से सभी को समतापूर्ण वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो को अपनाने की प्रेरणा भी देता रहता है।

जानने की सार्थकता मानने मे है और मानना तभी सफल वनता है जव उसके अनुसार किया जाय। विशिष्ट महत्त्व तो करने का ही है। आचरण ही जीवन को आगे वढाता है—यह अवश्य है कि आचरण अन्धा न हो, विकृत न हो।

विचार और आचार मे समता

दृष्टि जव सम होती है अर्थात् उसमे भेद नही होता, विकार नही होता और अपेक्षा नही होती, तब उसकी नजर मे जो आता है वह न तो राग या द्वेष से कलुषित होता है और न स्वार्थभाव से दूषित। वह निरपेक्ष दृष्टि स्वभाव से देखती है। विचार और आचार मे समता का यही अर्थ है कि किसी समस्या पर सोचें अथवा किसी सिद्धान्त पर कार्यान्वयन करें तो उस समय समदृष्टि एव समभाव रहना चाहिये। इसका यह अर्थ नही कि सभी विचारो की एक ही लीक को मानें या एक ही लीक मे भेड वृत्ति से चलें। व्यक्ति के चिन्तन या कृतित्व-स्वातत्र्य का लोप नही होना चाहिये वल्कि ऐसी स्वतन्त्रता तो सदा उन्मुक्त रहनी चाहिये।

समदृष्टि एव समभाव के साथ वडे से वडे समूह का भी चिन्तन या आचरण होगा तो समता का यह रूप उसमे दिखाई देगा कि सभी एक दूसरे की हित-चिन्ता मे निरत हैं और कोई भी ममत्व या मूर्छा का मारा नही है। निरपेक्ष चिन्तन का फल विचार समता मे ही प्रकट होगा, किन्तु यदि उस चिन्तन के साथ दभ, हठवाद अथवा यशलिप्सा जुड जाय तो वह विचार

सघर्षशील वनता है। ऐसे सघर्ष का निवारक महावीर का सिद्धान्त है अनेकान्तवाद या सापेक्षवाद—जिसका अर्थ है कि प्रत्येक विचार मे कुछ न कुछ सत्याश होता है और अपेक्षा से भी सत्याश होता है तो अंशो को जोडकर पूर्ण सत्य से साक्षात्कार करने का यत्न किया जाय। यह विचार सघर्ष से हट कर समन्वय का मार्ग है ताकि प्रत्येक विचार की अच्छाई को ग्रहण कर लें।

आचार समता के लिये पाचो मूल व्रत हैं। मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार इन व्रतो की आराधना मे आगे वढता रहे तो स्वार्थ-सघर्ष मिट सकता है। परिग्रह का मोह छोडे या घटावें और राग-द्वेष की वृत्तियो को हटावें तो हिंसा छूटेगी ही– चोरी और झूठ भी छूटेगा तथा कामवासना की प्रवलता भी मिटेगी। सार रूप मे महावीर की समताधारा विचारो और स्वार्थों के सघर्ष को मिटाने मे सशक्त है, वशर्ते कि उस धारा मे अवगाहन किया जाय। वैचारिक समता के दार्शनिक पक्ष को भी जरा समझलें —

'कथचित् स्यात् अस्ति' एव 'कथचित स्यात् नास्ति' अनेकान्तवाद के मूल सूत्र हैं याने कि किसी अपेक्षा से कुछ है या किसी अपेक्षा से कुछ नही है। इस परिभाषा को कोई कम-समझ लोग व्यग्य का निशाना वना लेते हैं कि यह वाद खूव हुआ जो हाँ और नाँ दोनो को मानता है। किन्तु इस वाद की गहराई को समझना जरूरी है।

अनेकान्तवाद का पर्यायवाची शब्द सापेक्षवाद भी है। प्रत्येक व्यक्ति या पदार्थ का एक ही पक्ष, अन्त या अपेक्षा नही होती। एक रुपये की मुद्रा तक के दो वाजू होते हैं। अत किसी भी एक पक्ष को ही उस व्यक्ति अथवा पदार्थ का पूर्ण परिचय मान लें तो क्या वह पूर्ण सत्य होगा ? इसे जैन दर्शन ने एकान्त या एकागी दृष्टिकोण कहा है जिसे 'भी' के साथ स्वीकार न करके 'ही' से सम्वोधित करे तो वह सत्याश भी असत्य हो जायगा। समझिये कि एक व्यक्ति का परिचय यह कराया जाय की आप श्री 'अ' के पिता हैं। जहाँ तक यह कहना है, उस व्यक्ति का सम्पूर्ण परिचय नही हो सकता है। वह किसी का पुत्र भी होगा, किसी का पति अथवा मामा भी होगा और इसी तरह विभिन्न सम्वन्धो व स्थितियो के आधार पर उसके परिचय के कई पक्ष

हो सकते हैं। वह श्री 'अ' का पिता है—तो यह उसका एकागी परिचय हुआ किन्तु यह असत्य नही है तो पूर्ण सत्य भी नही है, मात्र सत्यांश है। परन्तु यदि इस असत्याश के साथ भी 'ही' लगा दिया जाय कि वह श्री 'अ' का पिता ही है तो वह सत्याश भी असत्य हो जायगा। सत्याश तब रहेगा जब यह माना जाय कि वह श्री 'अ' का पिता 'भी' है तो वह पिता भी है, पुत्र भी है, पति भी है या मामा आदि भी है—यह सब माना जाय तो इससे सत्याशो का जोडा जाना सम्भव हो जायगा और जब भी उस व्यक्ति के सभी पक्षो का विवेचन ज्ञानजन्य बन जायगा तो मानिये कि तब पूर्ण सत्य का साक्षात्कार भी हो जायगा। अभिप्राय यह है कि किसी भी व्यक्ति या वस्तु के स्वरूप का एकागी विवेचन नही होना चाहिये बल्कि उसके सभी पक्षो की सही समीक्षा की जाय तथा सत्याशो को जोडकर पूर्ण सत्यानुभूति की दिशा मे गति दी जाय।

वर्तमान विश्व के वैचारिक सकट के लिये अनेकान्तवाद एक अमृतौषधि है। आज मुख्य विवाद यही है कि प्रत्येक वाद या विचार स्वय को ही सम्पूर्ण मानता है—सत्य मानता है तथा अन्य सभी विचारो को एकान्त मिथ्या। तो यह वैचारिक हठवाद हो गया और हठ मे सत्य के दर्शन नही हो सकते हैं। आपेक्षिक दृष्टि से सामान्यतया यह माना जाना चाहिये कि प्रत्येक वाद या विचार मे कोई न कोई ग्राह्य तत्त्व हो सकता है। इसका यह अर्थ हुआ कि किसी भी वाद या विचार के प्रति पूरी तरह से आखें बन्द नही कर लेनी चाहिये और न ही बिना जाने उसका विरोध किया जाना चाहिये। होना यह चाहिये कि प्रत्येक वाद या विचार का सम्मान करें, उसमे रही हुई उपादेयता को शोधें तथा मिल बैठकर समन्वयात्मक दृष्टिकोण को विकसित करें, और यही विचार समता तथा समता के माध्यम मे सत्य-दर्शन का मूल है।

जहा विचार-समता आ जाती है, वहाँ विवाद की कुठा समाप्त हो जाती है और समन्वय की सरल भावना जागृत हो जाती है। सरलतापूर्ण सामजस्य के बाद जो विचार या वाद समन्वित रूप ग्रहण करेगा, वह अवश्य ही अधिकाधिक हितकारी होगा।

विचार-सघर्ष को समाप्त करने के समान ही जैन दर्शन ने स्वार्थ-सघर्ष को कम करने या मिटाने के उपायो पर भी सम्यक् प्रकाश डाला है। अहिंसा उसकी आधारशिला है।

अहिंसा के सूक्ष्म विवेचन के साथ ऐसी एक आचार सहिता की रचना होती है कि जो व्यक्ति के और समाज के जीवन सचालन की नियत्रक बनाई जा सकती है। आर्थिक विषमता अथवा स्वार्थ-सघर्ष का मूल कारण है अनीति-पूर्ण उपायो से अर्थ का उपार्जन। यदि नीति से धन कमाया जाय तो सच मानिये कि किसी एक या कुछ लोगो के पास अर्थ का कम या ज्यादा सचय होना सभव नही है। यह तो जब अनीतिपूर्ण व्यवहार होता है और दूसरो के परिश्रम का शोषण किया जाता है तब ही अर्थ का सचय आरभ होता है। फिर जितनी अधिक अनीति, जितना अधिक शोषण और दमन, उतना ही अनीति के उन हाथो मे धन का अधिक सचय। इस कारण यो कह सकते हैं कि नीतिपूर्वक अर्थोपार्जन से तो कोई भी अपनी जीविका ही ठीक तरह से चला सकता है—विलासिता मे डूब नही सकता। किन्तु जब दूसरो की मेहनत चुरा कर भण्डार भरने शुरू किये जाते हैं तब सचय और सचय से अधिक सचय का क्रम चल जाता है। तब समाज सम्पन्न और अभावग्रस्त स्थिति वाले दो वर्गों मे बट जाता है—जिनके स्वार्थ सघर्ष निरन्तर चलते रहते हैं, जो हिंसक भी हो जाते हैं।

व्यक्तिगत एव समाजगत जीवन को स्वस्थ स्वरूप प्रदान करने के लिये यह आवश्यक शर्त है कि उसमे फैल रहे आचार व विचार के सघर्षो को कम किया जाय व धीरे-धीरे मिटाया जाय। यह समता स्थापना का महत्त्वपूर्ण कदम होगा।

चतुर्विध सघ एवं समता

महावीर ने इस समता दर्शन को व्यावहारिक बनाने के लिये जिस चतुर्विध सघ की स्थापना की, उसकी आधारशिला भी इसी समता पर रखी गई। इस सघ मे साधु, साध्वी, श्रावक एव श्राविका वर्ग का समावेश किया गया। साधना के स्तरो मे अन्तर होने पर भी दिशा एक ही होने से श्रावक एव साधु वर्ग को एक साथ सघ-बद्ध किया गया। दूसरी ओर उन्होने लिंग भेद भी नही किया साध्वी और श्राविका को साधु एव श्रावक वर्ग की श्रेणी मे ही रखा। जाति भेद के तो महावीर मूलत ही विरोधी थे। इस प्रकार महावीर के चतुर्विध सघ का मूलाधार ही समता है। दर्शन और व्यवहार के दोनो पक्षो मे समता को मूर्त रूप देने का जितना श्रेय महावीर को है, उतना किसी अन्य को नही दिया जा सकेगा।

महावीर का यह एक क्रान्तिपूर्ण विचार था कि जाति के आधार पर रचा गया समाज मान्य नही। समाज की रचना गुणो या कर्मों (कार्यों) के आधार पर मानी जानी चाहिये। घोषणा की गई कि जाति या जन्म की दृष्टि से किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र मानना उचित नही है। यह मान्यता तो गुण कर्म पर आधारित होनी चाहिये, अत अपने-अपने कार्यों से ही किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र मानें। फिर गुण कर्म के अनुसार कौन ब्राह्मण कहा जाय—इसे भी पारिभाषित किया गया। ब्राह्मण उसे कहिये जो क्रोध लोभ, भय या हास्य वश भी कभी असत्य भाषण न करता हो, जो अनासक्त भाव की ओर पग धरता हो तथा जो अदत्तादान व मैथुन सेवन से दूर हटता हुआ भोगो से निर्लिप्त रहता हो। निर्भ्रान्त ब्राह्मण उसे कहा गया जो दान्त, शान्त, अकिंचन, तपस्वी और तेजस्वी हो। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ब्राह्मण घर मे जन्म ले लेने मात्र से किसी को ब्राह्मण न समझें बल्कि गुणो को परखें और उनकी रोशनी मे ही किसी को ब्राह्मण समझें। यही बात अन्य तीनो वर्णों के लिये भी कही गई।

समता के आदर्श का यह दिव्य रूप था कि मनुष्य-मनुष्य के बीच मे जातिवाद, वर्णवाद, लिंगवाद या ऐसे दूसरे अप्राकृतिक भेदभाव को न माना जाय बल्कि आत्मसदृशता का अनुभाव ससार के समस्त प्राणियो के साथ भी जोडा जाय। गुण-कर्म के आधार पर जब विकास-यात्रा का आयोजन किया जाता है तो वहाँ किसी प्रकार की हीनमन्यता अस्तित्त्व मे नही रहती है बल्कि उत्साहपूर्ण प्रतियोगिता पैदा हो जाती है कि कौन अधिकतम गुणो का सम्पादन करता है ?

समता दर्शन का नवीन परिप्रेक्ष्य

युग बदलता है तो परिस्थितियाँ बदलती हैं। व्यक्तियो के सहजीवन की प्रणालियाँ बदलती हैं तो उनके विचार और आचार के तौर-तरीको मे तदनुसार परिवर्तन आता है। यह सही है कि शाश्वत तत्त्व मे एव मूल व्रतो मे परिवर्तन नही होता। सत्य ग्राह्य है तो वह हमेशा ग्राह्य ही रहेगा, किन्तु सत्य प्रकाशन के रूपो मे युगानुकूल परिवर्तन होना स्वाभाविक है। मानव समाज स्थगित नही रहता बल्कि निरन्तर गति करता रहता है तो गति का

अर्थ होता है एक स्थान पर टिके नही रहना और एक स्थान पर टिके नही रहें तो परिस्थितियो का परिवर्तन अवश्यभावी है।

मनुष्य एक चिन्तक और विवेकशील प्राणी होता है। वह प्रगति भी करता है तो विगति भी। किन्तु यह सत्य है कि वह गति अवश्य करता है। इसी गति चक्र मे परिप्रेक्ष्य भी बदलते रहते हैं। जिस दृष्टि से एक तत्त्व या पदार्थ को कल देखा था—शायद समय, स्थिति आदि के परिवर्तन से वही दृष्टि आज उसे कुछ भिन्न कोण से देखे और कोण भी तो देश, काल और भाव की अपेक्षा से बदलते रहते हैं। अत स्वस्थ दृष्टिकोण यह होगा कि परिवर्तन के प्रवाह को भी समझा जाय तथा परिवर्तन के प्रवाह मे शाश्वतता तथा मूल व्रतो को कदापि विस्मृत न होने दिया जाय। दोनो का समन्वित रूप ही श्रेयस्कर होता है।

इसी दृष्टिकोण से समता दर्शन को भी आज हमे उसके नवीन परिप्रेक्ष्य मे देखने एव उसके आधार पर अपनी आचरण विधि निर्धारित करने में अवश्य ही जिज्ञासा रखनी चाहिये। इस अध्याय मे आगे इस जिज्ञासा से विचार किया जा रहा है।

वैज्ञानिक विकास एव सामाजिक शक्ति का उभार

वैज्ञानिक साधनो के विकास ने मानव जीवन की चली आ रही परम्परा मे एक अचिन्तनीय क्रान्ति की है। व्यक्ति की जान पहिचान का दायरा जो पहले बहुत छोटा था - समय एव दूरी पर विज्ञान की विजय ने उसे अत्यधिक विस्तृत बना दिया है। आज साधारण से साधारण व्यक्ति का भी प्रत्यक्ष परिचय काफी बढ गया है तो रेडियो. टेलीवीजन एव समाचार पत्रो के माध्यम से उसकी जानकारी का क्षेत्र समूचे ज्ञात विश्व तक फैल गया है।

इस विस्तृत परिचय ने व्यक्ति को अधिकाधिक सामाजिक बनाया, क्योकि उपयोगी पदार्थों के विस्तार से उसका एकावलम्बन टूट सा गया—समाज का अवलम्बन पग-पग पर आवश्यक हो गया। अधिक परिचय से अधिक सम्पर्क और अधिक सामाजिकता फैलने लगी। सामाजिकता के प्रसार का अर्थ—हुआ सामाजिक शक्ति का नया उभार।

तब तक व्यक्ति का प्रभाव अधिक था समाज का सामूहिक शक्ति के रूप मे प्रभाव नगण्य था। अत व्यक्ति की सर्वोच्च प्रतिभा से ही सारे समाज को किसी प्रकार का मार्गदर्शन सभव था। तब राजनीति और अर्थनीति की धुरी भी व्यक्ति के ही चारो ओर घूमती थी। राजतन्त्र का प्रचलन था और राजा ईश्वर का रूप समझा जाता था। उसकी इच्छा का पालन ही कानून था। अर्थनीति भी राजा के आश्रय मे ही चलती थी।

वैज्ञानिक विकास एव सामाजिक शक्ति के उभार ने तत्र परिवर्तन के चक्र को तेजी से घुमाना शुरू किया।

राजनैतिक एव आर्थिक समता की ओर

आधुनिक इतिहास का यह बहुत लम्बा अध्याय है कि किस प्रकार विभिन्न देशो मे जनता को राजतत्र से कठिन और बलिदानी लडाइया लडनी पडी तथा दीर्घ सघर्ष के बाद अलग-अलग देशो मे अलग अलग समय मे वह राजतत्र की निरकुशता से मुक्त हो सकी। इस मुक्ति के साथ ही लोकतन्त्र का इतिहास प्रारभ होता है। जनता की इच्छा का बल प्रकट होने लगा और जन प्रतिनिध्यात्मक सरकारो की रचना शुरू हुई। इसके आधार पर ससदीय लोकतत्र की नीव पडी।

लोकतत्र की जो छोटी सी व्याख्या की गई है कि वह तत्र जो जनता का, जनता के द्वारा तथा जनता के लिये हो—इस स्थिति को प्रकट करती है कि एक व्यक्ति की इच्छा नही, बल्कि समूह की इच्छा प्रभावशील होगी। व्यक्ति अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी तथा एक ही व्यक्ति एक बार अच्छा हो सकता है तो दूसरी बार बुरा भी – अत एक व्यक्ति की इच्छा पर अगणित व्यक्ति निर्भर रहे—यह समता की दृष्टि से न्यायोचित नही माना जाने लगा। समूह की इच्छा यकायक नही बदलती और न ही अनुचित की ओर आसानी से जा सकती है, अत समूह की इच्छा को प्रमुखता देने का प्रयत्न ही लोकतन्त्र के रूप मे सामने आया।

लोकतत्र के रूप मे राजनैतिक समानता की स्थापना हुई कि छोटे-बडे प्रत्येक नागरिक को एक मत समान रूप से देने का अधिकार है और बहुमत

मिलाकर अपने प्रतिनिधि का चुनाव किया जाय। यह पक्ष अलग है कि व्यक्ति अपने स्वार्थो के वशीभूत होकर किस प्रकार अच्छी मे अच्छी व्यवस्था को भी तहस-नहस कर सकते हैं, किन्तु लोकतत्र का श्रेय यही है कि सर्वजन हित एव सर्व जन साम्य के लिये व्यक्ति की उद्दाम कामनाओ पर नियत्रण रखा जाय।

चिन्तन की प्रगति के साथ इसी ध्येय को आर्थिक एव सामाजिक क्षेत्रो मे भी सफल बनाने के प्रयास प्रारभ हुए। इन प्रयासो ने मनुष्यकृत आर्थिक विषमता पर करारी चोटें की और जिन सामाजिक सिद्धान्तो का निर्माण किया, उनमे समाजवाद एव साम्यवाद प्रमुख हैं। इन सिद्धान्तो का विकास भी धीरे-धीरे हुआ और कार्ल मार्क्स ने साम्यवाद के रूप मे इस युग मे एक आर्थिक दर्शन प्रस्तुत किया। युग अलग-अलग था, किन्तु क्रान्ति की जो धारा अपरिग्रह के रूप मे महावीर ने प्रवाहित की वैचारिक दृष्टि से कार्ल मार्क्स पर भी उसका कुछ प्रभाव था। कार्ल मार्क्स को भी यही तडप थी कि यह अर्थ व्यक्तिगत स्वामित्व के बन्धनो से छूट कर जन-जन के कल्याण का साधन बन सके। व्यक्तिगत स्वामित्व के छूटने का अर्थ होगा—'परिग्रह का ममत्व छूटना। सम्पत्ति पर सार्वजनिक स्वामित्व की स्थापना से धनलोलुपता नही रहती है। मानवता प्रमुख रहे और धन उसके साधन रूप मे गौण स्थान पर—यह साम्यवाद का लक्ष्य मार्क्स ने बताया कि एक परिवार की तरह सारे समाज मे आर्थिक एव सामाजिक समानता का प्रसार होना चाहिए।

अर्थ का अर्थ और अर्थ का अनर्थ

सामाजिक जीवन के वैज्ञानिक विकास की ओर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि इस प्रक्रिया मे अर्थ का भारी प्रभाव रहा है। जिस वर्ग के हाथो मे अर्थ का नियन्त्रण रहा, उसी के हाथो मे सारे समाज की सत्ता सिमटी रही बल्कि यो कहना चाहिये कि समाज के विभिन्न क्षेत्रो मे समता प्राप्त करने के जो प्रयत्न चले अथवा कि जो प्रयत्न सफल भी हो गये—अर्थ की सत्ता वालो ने उन्हे नष्ट कर दिया। आज भी इसी अर्थ के अनर्थ रूप से जगह-जगह लोकतन्त्र की अथवा साम्यवाद तक की प्रक्रियाएँ भी दूषित बनाई जा रही है।

सम्पत्ति के अनुभाव का उदय तब हुआ माना जाता है जब मनुष्य का प्रकृति का निरालिम आश्रय छूट गया और उसे अर्जन के कर्मक्षेत्र मे प्रवेश करना पडा। जिसके हाथ मे अर्जन एव सचय का सूत्र रहा—सत्ता का सूत्र भी उसी ने पकडा। आधुनिक युग मे पूजीवाद एव साम्राज्यवाद तक की गति इसी परिपाटी पर चली जो व्यक्तिवादी नियन्त्रण पर आधारित रही अथवा यो कहे कि अर्थ के अनर्थ का विषमतम रूप इन प्रणालियो के रूप मे सामने आया जिनका परिणाम विश्व युद्ध, नरसहार एव आर्थिक शोषण के रूप मे फूटता रहा है।

अर्थ का अर्थ जब तक व्यक्ति के लिये ही और व्यक्ति के नियन्त्रण मे रहेगा तब तक वह अनर्थ का मूल भी बना रहेगा क्योकि वह उसे त्याग की ओर बढने से रोकेगा—उसकी परिग्रह—मूर्छा को काटने मे कठिनाई आती रहेगी। इसलिए अर्थ का अर्थ समाज से जुड जाय और उसमे व्यक्ति की अर्थाकाक्षाओ को खुल कर खेलने का अवसर न हो तो सम्भव है, अर्थ के अनर्थ को मिटाया जा सके।

दोनों छोरो को मिलाने की जरूरत

ये सारे प्रयोग फिर भी वाह्य प्रयोग ही है और वाह्य प्रयोग तभी सफल बन सकते हैं, जब अन्तर का धरातल उन प्रयोगो की सफलता के अनुकूल बना लिया गया हो। तकली से सूत काता जाता है और कते हुए सूत से वस्त्र बनाकर किसी भी नगे बदन को ढका जा सकता है लेकिन कोई दुष्ट प्रकृति का मनुष्य तकली से सूत न कातकर उसे किसी दूसरे की आख मे घुसेड दे तो क्या हम उसे तकली का दोष मानें? सज्जन प्रकृति का मनुष्य बुराई मे भी अच्छाई को ही देखता है लेकिन दुष्ट प्रकृति का मनुष्य अच्छे से अच्छे साधन से भी बुराई करने की कुचेष्टा करता रहता है।

एक ही कार्य के ये दो छोर हैं—व्यक्ति आत्म-नियन्त्रण एव आत्म साधना से श्रेष्ठ प्रकृतियो मे ढलता हुआ उच्चतम विकास करे और साधारण रूप से और उसकी साधारण स्थिति मे सामाजिक नियन्त्रण से उसको समता की लीक पर चलाने की प्रणालियाँ निर्मित की जाय। ये दोनो छोर एक दूसरे के पूरक बनें—आपस मे जुडें, तब व्यक्ति से समाज और समाज से व्यक्ति का निर्माण सहज बन सकेगा।

सामान्य स्थिति अधिकाशतः ऐसी ही रहती है कि समाज के बहुसख्यक लोग सामान्य मानस के होते हैं जिन पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण रहे तो वे सामान्य गति से चलते रहते है, वरना रास्ते से भटक जाना उनके लिये आसान होता है। जो लोग प्रबुद्ध होते हैं, वे स्वय भ्रष्ट न होकर अपनी सत्चेतना को जागृत रखते हुए यदि ऐसी सामाजिक स्थितियाँ बनावें जो सामान्य जन के नैतिक विकास को प्रोत्साहित करती हो तो वह सर्वथा वाछनीय माना जायगा।

समता के समरस स्वर

वर्तमान विषमता की कर्कश ध्वनियो के बीच आज साहस करके समता के समरस स्वरो को सारी दिशाओ मे गु जायमान करने की आवश्यकता है। सम्पूर्ण मानव समाज ही नही, समूचा प्राणी समाज भी इन स्वरो से आल्हादित हो उठेगा। जीवन के सभी क्षेत्रो मे फैली विषमता के विरुद्ध मनुष्य को सघर्ष करना ही होगा क्योकि मनुष्यता का इस विषम वातावरण मे निरन्तर ह्रास होता ही जा रहा है।

यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य गिरता, उठता और बदलता रहेगा, किन्तु समूचे तौर पर मनुष्यता कभी समाप्त नही हो सकेगी, कभी मनुष्यता का अस्तित्व डूबेगा नही। वह सो सकती है, मर नही सकती और अब समय आ गया है जब मनुष्यता की सजीवता लेकर मनुष्य को उठना होगा—जागना होगा और क्रान्ति की पताका को उठाकर परिवर्तन का चक्र घुमाना होगा। क्रान्ति यही कि वर्तमान विषमताजन्य सामाजिक मूल्यो को हटाकर समता के नये मानवीय मूल्यो की स्थापना। इसके लिये प्रबुद्ध एव युवा वर्ग को विशेष रूप से आगे आना होगा और व्यापक जागरण का शख फू कना होगा जिससे समता के समरस स्वर उद्भूत हो सकें।

समता दर्शन का नया प्रकाश

सत्याशो के सचय से समता दर्शन का जो सत्य हमारे सामने प्रकट होता है—उसे यथा-शक्ति यथासाध्य सबके समक्ष प्रस्तुत करने का नम्र प्रयास

यहाँ किया जा रहा है। यह युगानुकूल समता दर्शन का नया प्रकाश फैला कर प्रेरणा एव रचना की नई अनुभूतियो को सजग वना सकेगा।

समता दर्शन को अपने नवीन एव सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य मे समझने के लिये उसके निम्न चार सोपान वनाये गये हैं—

१—सिद्धान्त-दर्शन

मानव ही नही, प्राणी समाज से सम्वन्धित सभी क्षेत्रो मे यथार्थ दृष्टि, वस्तुस्वरूप, उत्तरदायित्व तथा शुद्ध कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान एव सम्यक्, सर्वा गीण व सम्पूर्ण चरम विकास की साधना समता सिद्धान्त का मूलाधार है। इस पहले सोपान पर सिद्धान्त को प्रमुखता दी गई है।

२—जीवन-दर्शन

'सवके लिये एक व एक के लिये सव' तथा 'जीओ व जीने दो' के प्रतिपादक सिद्धान्तो तथा सयम नियमो को स्वय के व समाज के जीवन मे आचरित करना समता का जीवन्त दर्शन करना होगा।

३—आत्म-दर्शन

समतापूर्ण आचार की पृष्ठभूमि पर जिस प्रकाश स्वरूप चेतना का आविर्भाव होगा, उसे सतत सत्साधना पूर्ण सेवा तथा स्वानुभूति के वल पर पुष्ट करते हुए 'वसुधैव कुटुम्वकम्' की व्यापक भावना मे आत्म-विसर्जित हो जाना समता का उन्नायक चरण होगा।

४ परमात्मा-दर्शन

आत्म विसर्जन के वाद प्रकाश मे प्रकाश के समान मिल जाने की यह चरम स्थिति है। तव मनुष्य न केवल एक आत्मा अपितु सारे प्राणी समाज को अपनी सेवा व समता की परिधि मे अन्तर्निहित कर लेने के कारण उज्ज्वलतम स्वरूप प्राप्त करके स्वय परमात्मा हो जाता है। आत्मा का परम स्वरूप ही समता का चरम स्वरूप होता है।

इन चार सोपानो पर गहन विचार से समता दर्शन की श्रेष्ठता अनुभूत हो सकेगी और इस अनुभूति के वाद ही व्यवहार की रूप-रेखा सरलतापूर्वक हृदयगम की जा सकेगी।

: ५ :

पहला सोपान : सिद्धान्त-दर्शन

ज्ञान और चिन्तन आचरण की आधार-शिलाएँ होती हैं। आधार-शिलाएँ सुदृढ हुईं तो भवन का निर्माण भी सुदृढ होगा। शिलाएँ कच्ची हुई या ठीक तरह से नही जमी और उन पर यदि निर्माण कार्य कराया जायगा तो उस निर्माण की सुरक्षा की कोई गारण्टी नही होगी। इसी कारण सिद्धान्त क्या है, उसकी गम्भीरता एव सक्षमता क्या है उसका ज्ञान एवं उसकी परीक्षा पहले आवश्यक होती है।

ज्ञान चेतना की निजी शक्ति है— जिसके द्वारा पदार्थ का वोध होता है—वस्तु के स्वरूप को जाना जाता है, किन्तु जो कुछ भी इस तरह जाना जाता है वह सव कुछ सही ज्ञान नही होता। अच्छे का भी इस तरह ज्ञान होता है और वुरे का भी—इसलिये ज्ञान के साथ चिन्तन का महत्त्व है। चिन्तन ज्ञान की छलनी होती है जो सार रूप को रोककर कचरे को वाहर फेंक देती है। चिन्तन के विना ज्ञान की श्रेष्ठता प्रकाशित नही होती है तो स्वय की अवधारणा भी पुष्ट नही वनती है। जानने और मानने की कडियो को जोडने वाला चिन्तन ही होता है।

चिन्तन मनुष्य के मन का उन्नायक भी होता है। चिन्तक का मन जो कुछ जानता है, उस पर अपनी कसौटी से सोचता है, तव उस ज्ञान की उपादेयता पर उसकी जो निष्ठा जमती है, वह सुदृढ एव स्थायी होती है। चाहे कितने ही वडे आदमी ने एक वात कही हो और हकीकत मे वह वात कितनी ही अच्छी भी हो, लेकिन अगर उसे वन्द दिमाग से मानने की शिक्षा दी गई तो वह मानना खुद की समझ पर टिका न होने से लम्वा नही

टिकेगा। दूसरे के जाने हुए को भी स्वय जानना—यह चिन्तन की प्रक्रिया होती है।

चिन्तन ज्ञान की कसौटी

ज्ञान जितना मन की गहरी परतो मे उतरता जायगा, उतना ही उसका वैशिष्ट्य भी प्रकट होता जायगा। जो कुछ जाना है, वह सही है या नही—उसकी सबसे बडी कसौटी शुद्धात्मानुभूति ही होती है और आत्मानुभूति को सजग एव सक्षम बनाने का मार्ग चिन्तन का मार्ग है। जो चिन्तन मे रमता है, निश्चित मानिये कि वह सतत जागृत भी रहता है।

समता के सिद्धान्त के सन्दर्भ मे ज्ञान और चिन्तन की मीमासा पर विशेष बल दिया जाय तो यह सर्वथा उपयुक्त होगा। यहा समता के दर्शन एव व्यवहार पर प्रकाश डाला जा रहा है और इसे पढकर बिना उसे अपने चिन्तन की कसौटी पर कसे ही अन्धानुकरण से जान लें, मान लें और तदनुसार करना भी शुरू कर दें तब भी उसके आचरण को स्वस्थ नही कहा जा सकेगा। अनजाने मे कोई दूध भी पीले तो उससे भी वाछित लाभ नही मिलेगा क्योंकि जो मानसिक बल उस लाभ की प्राप्ति के लिये तैयार होना चाहिये उसका वहा नितान्त अभाव होगा। जहा मानसिक बल नही, वह कितनी दूर तक चल सकेगा—इसका कोई भरोसा नही और आधे रास्ते चलकर वहा से वह भटक जाय तो यह और भी बुरा होगा।

अत अभिप्राय यह है कि यहाँ समता के जिस सिद्धान्त दर्शन पर प्रकाश डाला जा रहा है, उसे जानें और तभी मानें जब चिन्तन की कसौटी पर उसे कसकर आप उसे खरा जान लें। इस प्रक्रिया के बाद आपकी आचरण की जो क्रिया होगी, वह अटल होगी। तब आपका मन मजिल पर पहु च कर ही मानेगा।

समता का सैद्धान्तिक स्वरूप

कहावत है कि किसी भी शुभ का समारम्भ स्वय से होना चाहिये और समता भी अपने से शुरू होनी चाहिये। पहले हम निज को सम

वनावें—सम सोचें, सम जानें, सम मानें, सम देखें, और सम करें। सम का अर्थ समान और समान याने सन्तुलित। एक तुला होती है—उसके दोनो पलडे जब बराबर होते हैं तो उसे सन्तुलित कहा जाता है। जब वह तुला बराबर तोल रही है तब उसका काटा ठीक बीचोबीच होता है। उसी तरह जब मन का काटा भेद को छोड कर केन्द्रित रहता हुआ वस्तु स्थिति को देखता है—उस पर सोचता है और तदनुकूल करने का निर्णय लेता है—उस मन को ही सन्तुलित कहा जायगा।

सन्तुलन के लिये सयम आवश्यक होता है। अपने हित पर चोट भी पडे किन्तु मन का सन्तुलन न बिगडे- यह काम सयम करता है। सयम से सम किसी भी स्तर पर टूटता नही हैं। कारण कि जहाँ सम टूटा, विषमता कट्टर बन, मन पर टूट पडती है—स्वार्थ, भोग और विकार उसे तुरन्त घेर लेते है—फिर उस भवर से मन को निकालना दुष्कर हो जाता है। अत. एक बार साधे गये सम की सुरक्षा भी अति महत्त्व की होती है।

सयम के कल्पतरु पर अमर फल लगता है—त्याग का। त्याग याने छोडना और यह छोडना अविचारपूर्ण या निष्कारण नही। समता लाने और उसे फैलाने के विशाल प्रयोजन के हित जो जीवन मे देना सीख जाता है—छोडने मे आनन्द अनुभव करने लग जाता है तो वह अपनी कर्मठ शक्ति को भी पहिचानने लग जाता हैं। त्याग निरपेक्ष दृष्टि देता है तो निष्काम कर्म की प्रेरणा। जहाँ त्याग आ जाता है, वहाँ विषमता छू भी नही सकेगी।

समता सिद्धान्त की मूल प्रेरणा

समता सिद्धान्त की मूल प्रेरणा का स्रोत त्याग को मानना होगा। भारतीय सस्कृति मे सदा ही त्याग को सर्वाधिक महत्ता मिली है और इसी त्याग के तेज पर ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया जा सका। हृदय की उदारता त्याग पर ही टिकी रह सकती है।

भोग और त्याग—इन दो स्थितियो मे समग्र जीवन का चित्र अंकित किया जा सकता है। जो जीवन को भोग मात्र के लिये मानता है, वह अपनी चेतना से हटकर शरीर मे बंधता है, परिग्रह की मूर्छा मे बंधता है और

जडग्रस्त बनता है। भोग इस तरह स्वार्थ को जन्म देता है। स्वार्थ अन्धा होता है—वह अपने ही को याद रखता है—दूसरो को भुला देता है। स्वार्थ राग द्वेष की वृत्तियो को पैदा ही नही करता, उन्हे चिकनी बनाता रहता है। जहाँ राग, द्वेष है—स्वाथ है—वहाँ कौन सा विकार डेरा नही डालता ? भोग है तो विषय-वासना है, राग-द्वेष है, क्रोध, मान, माया, लोभ है और जहाँ यह कुविचारी चौकडी है, वहाँ अनीति, अन्याय एव अत्याचार का कोई ऐसा अनर्थ नही—जिसे भोगी मनुष्य करते हिचकिचाए। यही भोग-वृत्ति जब समाज और राष्ट्र को आच्छादित करती है, तब शोषण और दमन के दौर चलते हैं—हिंसात्मक आक्रमण एव युद्ध होते—हैं तब मनुष्यता मनुष्य ही के रक्त से नहाकर पैशाचिकता का अपरूप धारण करती है।

भारत भूमि पर त्याग की महत्ता सदैव सर्वोच्च रही है, क्योकि यहा की सस्कृति और सभ्यता त्याग-भाव की नीव पर ही खडी हुई है। अपने पास जो कुछ है उसे जो दे देने की नि स्वार्थ भावना रखता है, उसे देव माना गया तो जो सब कुछ अपने तुच्छ स्वार्थ के लिये अपने ही पास रखने का दुराग्रह करता है, उसे राक्षस कहा गया। देवे सो देव और रखे सो राक्षस—कितनी सुन्दर उक्तिया है ?

त्याग की वृत्ति और प्रवृत्ति पर शास्त्रो ने भी पूरा बल दिया है। लाभ के प्रति समदृष्टि अपनाने के साथ सग्रह से अपने आपको दूर रखने की सीख दी गई है और कहा गया है कि लाभ पर गर्व न करें तो अलाभ पर शोक भी नही तथा अधिक मिलने पर सग्रह न करें—परिग्रह वृत्ति से अपने को दूर रखें। यह भी कहा गया है कि जो परिग्रह की सग्रह वृत्ति मे व्यस्त रहते है, वे ससार मे अपने प्रति वैर ही बढाते हैं। यथावसर सचित धन को तो दूसरे उडा देते हैं और सग्रही को अपने पाप-कर्मों का फल भोगना पडता है।

त्याग की चर्चा कई श्रेणियो के अनुसार भी शास्त्रो मे की गई है। पहली तो नकारात्मक श्रेणी है कि सग्रह मत करो। दूसरी श्रेणी अल्प त्याग की है कि अपने लिये भी रखो और दूसरो के लिये भी दो—इसे सविभाग कहा गया है, जिसका अर्थ होता है—प्राप्त परिग्रह का समान बटवारा। इस

सिद्धान्त मे महात्मा गाधी की ट्रस्टीशिप का विचार और कार्ल मार्क्स का साम्यवाद—दोनो समाविष्ट हो जाते हैं । यह समझ कर कि आपका उपार्जन केवल आपका ही नही, सारे समाज का है—आप उसका संविभाग करें, और यह समझ कर भी आप उसका सविभाग करें कि समता की प्रतिष्ठा इस मार्ग पर चल कर ही हो सकेगी । शायद इसी पृष्ठभूमि मे शास्त्रो मे घोषणा की गई है कि जो अपने उपार्जन का सविभाग नही करता याने कि प्राप्त सामग्री को अपने साथियो मे नही बाटता, उसका मोक्ष नही होता । जो असविभागी (प्राप्त सामग्री का वितरण नही करने वाला) असग्रह रुचि (साथियो के लिये समय पर उचित सामग्री का सग्रह कर रखने मे रुचि नही रखने वाला) तथा अप्रमाणभोजी (मर्यादा से अधिक भोजन करने वाला) हैं, वह अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना नही कर सकता है । किन्तु जो सविभागशील है, संग्रह और उपग्रह मे कुशल है, वही अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना कर सकता है । सविभाग के इस गूढ महत्त्व को समझ कर जितना उसे कार्य रूप दे सकेंगे, उतनी ही बाह्य समता का चहु ओर विस्तार हो सकेगा ।

किन्तु त्याग की उच्चतम श्रेणी वह बताई गई है कि सर्वस्व का त्याग कर दिया जाय, जो महा-महा त्याग साधु-श्रमण करते हैं । अपने इस सर्वस्व त्याग के कारण ही उन्हे समता— मूर्ति माना जाता है ।

त्याग-प्रत्याख्यान भी वास्तविक होने चाहिये, मात्र काल्पनिक नही क्योकि वास्तविकता के बिना हृदय मे सच्ची समता का उद्भव नही हो सकेगा । कोई सामान्य गृहस्थ यह प्रत्याख्यान ले कि वह अपनी वर्तमान परिग्रह सीमा को अमुक मात्रा तक घटा देगा तो उसे वास्तविक कहेगे लेकिन वही गृहस्थ, जिसके पास खाने की भी व्यवस्था नही है, यह प्रत्याख्यान करे कि वह सोने की थाली मे नही जीमेगा या कि रत्नजडित पलग पर नही सोयेगा तो वैसा प्रत्याख्यान काल्पनिक ही अधिक कहलायेगा । शास्त्रो मे त्यागी उसे ही बताया गया है जो अपने पास रही हुई ऋद्धि-सिद्धि का परित्याग करे । अभिप्राय यह है कि गहरी आन्तरिक भावना के साथ जब बाह्य त्याग किया जाता है तो वह समता की एक श्रेणी होती है ।

त्याग समता सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु है— इतना महत्त्वपूर्ण है कि किंचिद् मात्र इससे हटे कि समझिये आपने विषमता को न्यौता दे डाला । समता की

साधना के समय विचार एव कार्य-दृष्टि निरन्तर इस केन्द्र विन्दु पर लगी रहनी चाहिये ।

जितना त्याग उतनी समता

जितना त्याग, उतनी समता और जितना भोग, उतनी विषमता । त्याग कितना—इसकी कोई सीमा नही होती । एक दु खी प्राणी को देख कर पाच पैसे की सहायता करता है तो कोई दूसरा उसके दु ख का निवारण करने के लिये अपने अमूल्य जीवन का भी उत्सर्ग कर देता है । किस कारण के लिये कितना त्याग किया जा सकता है—यह अन्त प्रेरणा की वस्तु-स्थिति होती है, किन्तु मूल आवश्यकता यह है कि अन्त.करण मे त्याग की अटूट निष्ठा वने ।

'मैं किसी भी दूसरे प्राणी के हित पर कतई आघात न करूँ'—यह सामान्य निष्ठा हुई, लेकिन 'मैं दूसरो के हितो की रक्षा के लिये अपने हितो को भी छोड दूँ'—यह त्याग की विशेष निष्ठा होगी । जहाँ जैसी स्थिति हो, वहाँ उस रूप मे यदि यह निष्ठा वनी रहे तो आप लाख सोचकर भी वह जगह नही वता पायेंगे, जहाँ किसी भी प्रकार का कोई सघर्ष पैदा हो सके । कहते हैं, ताली दोनो हाथो मे वजती है, एक से नही । जहाँ एक व्यक्ति ताली से अपना हाथ सरका ले, वहाँ ताली नही वजेगी यह तो सही है ही, लेकिन जिसकी मजबूरी ने ताली नही वजी है वह भी पहले व्यक्ति से प्रेरणा लेने की वात सोचेगा । इसी तरह सघर्ष मिटता जायगा, विषमता हटती जायगी और समता फलती व फूलती जायेगी ।

समता—सदन के प्रमुख सिद्धान्त स्तम्भ

१

आत्माओ की समता—मूल स्वरूप मे एव विकास के चरम मे

मनुष्य को सवसे पहले यह स्थिति-ज्ञान हो जाना चाहिये कि वह क्षुद्र या हीन नही है, जो विकास के ऊँचे-ऊँचे स्तर तक न पहु च सके । आत्माए अपने मूल स्वरूप में सभी समान होती है—जो अन्तर है वह अन्तर मिटाया जा सकता है । एक अगारा खुला पडा है—उसकी लाल-लाल ज्योति चमकती

है । उस पर जितने अश मे राख पडती जायगी, उसकी ज्योति मन्दी होती जायेगी, किन्तु ज्यो ही उसे हवा के झोके की सहायता मिलेगी और उसकी राख जिस परिमाण मे उस पर मे हटेगी, उसकी वह ज्योति फिर से चमकती भी जायगी ।

आत्मा का अनन्त ज्ञान एव अनन्त शक्ति जो ईश्वरत्व के रूप मे फूट कर प्रदीप्त बनती है, वही प्रदीप्तता प्रत्येक आत्मा मे समाई हुई है, किन्तु कुकर्मो की राख सासारिक आत्माओ पर छाई होने से जो तेज प्रकट होना चाहिये, वह दवा रहता है । यो कह दें कि आत्मीय समता को निखारने के लिये सत्कर्मों की ऐसी हवा बहाई जाय कि अगारे पर जमी राख उड जाये और उसकी ज्योति अपनी पूरी चमक के साथ प्रकाशित हो जाये ।

इस सिद्धान्त से कर्मण्यता की अनुभूति जागृत होनी चाहिये । किसी भी आत्मा मे ऐसी कोई विशिष्टता नही है जो अन्य आत्मा मे प्राप्य न हो । सभी आत्माओ मे समान शक्ति निहित है तथा उस छिपी हुई शक्ति को प्रकट कर सकने का पराक्रम भी सब मे समान रूप से रहा हुआ है । अब जो जितना पराक्रम दिखाता है, वैसी प्राप्ति उसे हो जाती है । ईश्वरत्व तक पहुँचने के द्वार सबके लिये समान रूप से खुले हुए हैं । साधना के कठिन मार्ग पर होकर कोई भी उसमे प्रवेश कर सकता है । इस मान्यता से कर्मठता की भावना जागती है ।

समता का पहला सिद्धान्त यह हुआ कि सभी आत्माओ के लिये अपना चरम विकास सम्पादित करने मे अवसर की समानता है—कोई विषम या विभेदपूर्ण स्थिति नही है । जो भी ज्ञान और क्रिया के सच्चे रास्ते पर आगे बढेगा, उस पर निरपेक्ष भाव से अपना पराक्रम दिखायेगा, वह स्वय समता पाएगा और बाहर समता फैलाएगा ।

: २ :

दुर्भावना, दुर्वचन एव दुष्प्रवृत्ति का परित्याग

आत्मीय समता की उपलब्धि हेतु समस्वभाव का निर्माण होना चाहिये । स्वभाव की विषमता चारो ओर विषम वातावरण बनाने लगती है ।

स्वभाव को ढालने का अर्थ है—मन, वाणी एव कर्म को ढालना। किसी का सोचना, बोलना और करना उसके अपने भावो को व्यक्त करता है। यदि इन तीनो मे किसी की समानता है तो माना जाता है कि वह भद्र पुरुष है वशर्ते यह समानता भी अच्छाई की दिशा मे वढाने वाली हो। दूसरी ओर कोई सोचे क्या, वतावे क्या और करे क्या—उस पर सहज ही कोई विश्वास नही करता तथा उसे धूर्त पुरुष कहा जाता है तथा इन तीनो के विभेद से बुराई तो फूटती ही है।

मन, वाणी एव कर्म की समता तो अभीष्ट है ही, किन्तु इस समता के साथ इन तीनो के साथ लगे 'दु' को धो डालना होता है। किसी के प्रति बुरा विचार ही पैदा न हो—किसी को बुरा लगे वैसा वचन मुँह से नही निकले और किसी के मन, वचन एव कार्य को चोट पहुचाने वाला कोई भी कार्य हमसे नही हो तो न कही सघर्ष की स्थिति होगी, न किसी भी अश मे विषमता पैदा होगी। मन, वाणी एव कर्म की समता एव शुद्धता सभी स्थानो पर—चाहे वह परिवार, समाज, राष्ट्र या विश्व हो—सबमे सद्भावना ही उत्पन्न करेगी। यह सयुक्त सद्भावना ही स्थायी समता का वातावरण वनाती है।

मनुष्य भी आहार, निद्रा, भय व मैथुन की दृष्टि से एक पशु ही है किन्तु अन्य पशुओ से उसमे जो विशेषता है वह उसके विवेक की है, उसकी भावना की है। मस्तिष्क एव हृदय की गतिशीलता ही मनुष्य को पशुत्व से ऊपर उठाती है, मनुष्यता मे रमाती है तो देवत्व के दर्शन भी कराती है। मानव शरीर अवश्य भोजन पर चलता है किन्तु मानव जीवन मुख्यत भावना पर चलता है। जितना वह भावनाशील वनता है, उसके मन, वचन एव कर्म का विवेक जागता है और ज्यो-ज्यो उसकी भावना सरणियाँ उन्नत वनती हैं, समता की स्थितिया सुगठित होती जाती हैं। भावनाशून्य मनुष्य का जीवन पशुवत् ही माना जाता है।

भावना ही वह शक्ति है जो मनुष्य के 'दु' को धोकर उसे सत्साधना मे कर्मनिष्ठ वनाती है एव 'सु' से विभूषित कर देती है। यह 'सु' ही समता का वाहक होता है।

: ३

समस्त-प्राणी वर्ग का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकारना

समता सिद्धान्त की यह प्रमुख मान्यता है कि ससार के सभी मनुष्य बल्कि सभी प्राणी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं तथा कोई चाहे कितना ही शक्तिशाली हो, किसी दूसरे के अस्तित्व को मिटाने का उसे कोई अधिकार नही है, बल्कि उसका कर्त्तव्य है कि वह अपनी शक्ति को प्रत्येक के स्वतन्त्र अस्तित्व की रक्षा मे नियोजित करे। समान कर्मण्यता, समान श्रेष्ठता एव समान हार्दिकता का स्पर्श दुर्बल जीवन मे भी प्राण भरेगा और उसकी सर्वाङ्गीण शक्ति को उभारेगा।

"जीओ और जीने दो"—का सिद्धान्त इसी की प्रतिकृति है कि प्रत्येक जीवन अपने सचरण को इतना सीमित एव मर्यादित रखे कि वह कही भी अन्य जीवन के साथ सघर्ष मे न आवे तथा सबको 'आत्मवत्' समझे। तब विचार एव आचार मे समता के सूत्र सब ओर फैलने लगते हैं। 'अपनी आत्मा वैसी ही सबकी आत्मा' का अनुभाव जब पैदा होता है तो वह मनुष्य अपने दायित्वो के प्रति सावधान बन जाता है तथा सभी जीवधारियो के प्रति स्नेहिल एव मृदु हो जाता है। सबके प्रति समान रूप से स्नेह की वर्षा करने मे ही समता की तरल सार्थकता बनती है।

समस्त प्राणी वर्ग का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकारने मे मनुष्य के समूचे जीवन मे एक समतामय परिवर्तन आता है जो सारी जीवन-विधा को बदल देता है। ऐसे व्यक्ति मे दम्भ या हठवाद नही जागता और उसके विचार से विनम्रता कभी नही छूटती, क्योकि वह यह कभी नही मानता कि मैं ही सब कुछ हूँ। सबके प्रति समादर उसे सबके सुख-दुख का सहभागी बनाता है तो दूसरी ओर उसके सद्गुणो का प्रभाव अधिक से अधिक विस्तृत बन कर समूचे वातावरण को समता के रग मे रगने लगता है।

४ :

समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों का यथाविकास यथायोग्य वितरण

जीवन की मूल आवश्यकताओ की पूर्ति के बिना कोई जीवन चल नही सकता और जब इन्ही जीवनोपयोगी पदार्थों के अधिकार के सम्बन्ध मे धींगाधींगी चलती हो तो पहला काम उसे मिटाना होगा। यह सही है कि रोटी ही सब कुछ नही है लेकिन उस 'सब-कुछ' की नीव अवश्य ही रोटी पर टिकी हुई है। मूल आवश्यकताएँ होती है—भोजन, वस्त्र और निवास। सभी जीवनधारियो की मूल आवश्यकताएँ पूरी हो—यह पहली बात, किन्तु दूसरी बात भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है कि वह पूर्ति विषम नही होनी चाहिये।

यही कारण है कि समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों के यथाविकास—यथायोग्य वितरण पर बल दिया जा रहा है।

यथाविकास एव यथायोग्य वितरण का लक्ष्य यह होगा कि जिसको अपनी शरीर-दशा, धधे या अन्य परिस्थितियो के अनुसार जो योग्य रीति से चाहिये, वैसा उसे दिया जाय। यही अपने तात्पर्य मे सम-वितरण होगा।

जहाँ वितरण का प्रश्न है—ऐसी सामाजिक व्यवस्था होनी चाहिये जो ऐसे वितरण को सुचारु रूप से चलावे। वितरण को सुचारु बनाने के लिये उत्पादन के साधनो पर किसी न किसी रूप मे समाज का नियन्त्रण आवश्यक होगा ताकि व्यक्ति की तृष्णा वितरण की व्यवस्था को अव्यवस्थित न बना दे। इसके सिवाय उपभोग-परिभोग के पदार्थों की स्वेच्छा से मर्यादा बाधने से भी वितरण मे सुविधा हो सकेगी।

समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों मे मूल आवश्यक पदार्थों के अलावा अन्य सुविधाजनक पदार्थों का भी समावेश हो जाता है, जिसके यथाविकास एव यथायोग्य वितरण का यह भी परिणाम होना चाहिये कि आर्थिक विषमता की स्थिति न रहे और न पनपे। पदार्थों का अभाव जितना घातक नही होता उससे भी अधिक घातक यह विषमता होती है। विषमता के

कारण ही धनलिप्सा भी असीम बनकर अनीति एव अनर्थ कराने को मनुष्य को उत्तेजित बन.ती है । इस विषमता को दूर करके आर्थिक समता के मार्ग को प्रशस्त करने का यही उपाय है कि सुदृढ व्यवस्था-प्रणाली द्वारा सभी पदार्थों का यथाविकास एव यथायोग्य सवितरण किया जाय ।

· ५ ·

जन कल्याणार्थ सपरित्याग मे आस्था

आर्थिक समता लाने की प्रारम्भिक अवस्था मे अथवा सकटकाल मे प्रत्येक व्यक्ति की यह तैयारी होनी चाहिये कि व्यापक जन कल्याण की भावना से वह अपने पास जो कुछ है उसका परित्याग करने मे कतई न हिचकिच.वे । इस वृत्ति मे आस्था होने का यही अभिप्राय है कि वह अपनी सचित सम्पत्ति मे ममत्व न रखे, बल्कि उसे भी समाज का न्यास समझें, जिसे यथावसर वह पुन. समाज को समर्पित कर दे ।

जनकल्याण का अर्थ भी काफी व्यापक दृष्टि से समझन। चाहिये । कल्पना करें की प्रदेश मे अकाल की स्थिति वन गई है—आपके पास अपनी सचित सम्पत्ति है, किन्तु मनुष्य और पशु अन्न एव घास के अभाव मे भूख से मर रहे हैं—तव भी आप अपनी सम्पत्ति को अपने पास दवाकर बैठे रहे—यह समता के सिद्धान्त को मान्य नही है । यह सिद्धान्त तो आपको प्रेरणा देता है कि एक सामाजिक व्यक्ति को समूह के कल्याण के लिये अपनी सम्पत्ति ही नही—अपने जीवन और सर्वस्व तक को समर्पित कर देना चाहिये । समूह का हित व्यक्ति के हित से वडा होता है—इस तथ्य को भुलाया नही जाना चाहिये । सामूहिक हितसाधना मे व्यक्ति के त्याग को सदा प्रोत्साहित किया जाना चाहिये । सामाजिक व्यवस्था को सर्वजन हितकारी इसी निष्ठा के साथ वनाया जा सकता है ।

समता का सिद्धान्त दर्शन तो सपरित्याग की इस आस्था का मनुष्य के मन मे अधिकाधिक विकास करना चाहेगा । सपरित्याग की आस्था जितनी गहरी होगी, उतना ही सम्पत्ति आदि के प्रति मनुष्य का मोह कम होगा जिसके प्रभाव से विषमता की दीवारें खुद-ब-खुद ढहती जायगी और उनके स्थान पर

समता का सुखद सदन निर्मित होता जायगा। यह सपरित्याग अर्थलोलुप परम्पराओ को वदलेगा—वितृष्णाजन्य वृत्तियो को वदलेगा तो जीवन मे सरसता की नई शक्तियो का उदय भी करेगा। समाज की आर्थिक व्यवस्था सम वन जाती है तो सही मानिए कि व्यक्ति—व्यक्ति का चरित्र भी नई प्रगतिशील करवट ले सकेगा। यह कार्य सपरित्याग की आस्था से अधिक सहज वन जायगा।

६

गुण-कर्म के आधार पर श्रेणी विभाग मे विश्वास

जव अर्थ-परिग्रह को मानव जीवन एव मानव समाज के शीर्पस्थ स्थान से नीचे हटा दिया जायेगा और जव मानवता उसे अपने नियत्रण मे ले लेगी, तव समाज का आज का अर्थप्रधान ढाचा पूरे तौर पर वदल जायगा। राजनैतिक, आर्थिक एव सामाजिक समता के परिवेश मे तव धन-सम्पत्ति के आधार पर श्रेणी विभाग नही होगा वल्कि गुण व कर्म के आधार पर समाज का श्रेणी विभाजन होगा। वह विभाजन मानवता का तिरस्कार करने वाला नही, वल्कि समता के लक्ष्य की ओर वढाने के लिये स्वस्थ होड का अवसर देने वाला होगा। अर्थ के नियत्रण मे जब तक चेतन रहता है तव तक वितृष्णा के वशीभूत होकर जडवत् वना रहता है किन्तु ज्यो ही वह अर्थ को अपने कठोर नियत्रण मे रखना सीख जायेगा—उसका चैतन्य भी चमक उठेगा।

समता मार्ग की ओर वढने वाले व्यक्ति का इस कारण सिद्धान्तत गुण व कर्म के आधार पर श्रेणी विभाग में विश्वास होना चाहिये। गुण व कर्म का आधार किस रूप मे हो—इसे समझ लेना चाहिये। कारण कि आज के अर्थ-प्रभावी वातावरण मे यह कठिनता से समझ मे आने वाला तथ्य है। समाज मे ऊँची श्रेणी, ऊँचा आदर या ऊँची प्रतिष्ठा उसे मिलनी चाहिये जिसने अपने जीवन मे ऊँचे मानवीय गुणो का सम्पादन किया हो तथा जिसके कार्य त्याग एव जनकल्याण की दिशा मे सदा उन्मुख रहते हो और इसी मापदड से समाज को विभिन्न श्रेणियो मे विभाजित किया जाय। इस विभाजन का यही अर्थ होगा कि नीचे की श्रेणी वाला स्वय प्रवुद्धता ग्रहण करता हुआ ऊपर की श्रेणियो मे आने का सत्प्रयास करता रहे। गुण और

कर्म मनुष्य की महानता के प्रतीक हो एव अन्य पौद्गलिक उपलब्धियाँ इनके समक्ष हीन-दृष्टि से देखी जाय।

गुण कर्म के आधार पर श्रेणी विभाग का विश्वास ज्यो-ज्यो मनुष्य के आचरण मे उतरेगा, अन्य भौतिक प्राणियों का महत्त्व समाज मे स्वतः ही घटता जायेगा और तदनुसार भौतिक दृष्टि से सम्पन्नो का समादर भी समाप्त हो जायगा। तव गुणाधारित समाज एक कर्मनिष्ठ समाज होगा और व्यक्ति-व्यक्ति का सामान्य चरित्र भी समुन्नत होता जायगा। सर्वांगीण समता वैसे समय मे एक सुलभ साध्य वन जायगी।

सच पूछा जाय तो मनुष्यता का सच्चा विकास ही तव होगा जव गुण पूजक सस्कृति की रचना होगी जैसी कि महावीर ने रची थी। ऐसी सस्कृति ही सदाशय कर्म को अनुप्रेरित करती रहती है। महावीर ने अपने दर्शन मे व्यक्ति-महत्ता को कही स्थान नही दिया है सिर्फ गुणो की आराधना पर वल दिया। नमस्कार मत्र मे भी किसी व्यक्ति को नही, अपितु गुणो के प्रतीक—अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एव साधु को वन्दन किया गया है। इसी गुणाधारित सस्कृति के श्रेष्ठतम विकास एव अधिकतम प्रसार पर वल दिया जाना चाहिये।

: ७ ·

सम्पत्ति व सत्ता प्रधान व्यवस्था के स्थान पर मानवता प्रधान व्यवस्था का गठन

समता के सिद्धान्त दर्शन का निचोड यह होगा कि वर्तमान समाज व्यवस्था मे आमूल-चूल परिवर्तन हो और उस परिवर्तन का उद्देश्य यह हो कि जड का नही, चेतना का शासन स्थापित हो, सत्ता या सम्पत्ति की शक्ति से प्रभुता न मिले, वल्कि मानवीय गुणो की उपलब्धि से समाज का नेतृत्व प्राप्त हो। इसके लिये आज की सम्पत्ति एव सत्ता प्रधान व्यवस्था को हटाकर उसके स्थान पर मानवता-प्रधान व्यवस्था का गठन करना होगा।

इस व्यवस्था से सम्पत्ति व सत्ता के स्वामी को नही, मानवीय गुणो के साधक को प्राण-प्रतिष्ठा मिलेगी, जिससे गुण प्राप्ति की ओर सामान्य जन

का उत्साह वढेगा। सम्पत्ति श्रौर सत्ता पाने की छिछली श्रौर घिनौनी होड खत्म हो जायगी। सम्पत्ति श्रौर सत्ता को श्रपने लिये प्राप्त करने की यह होड ही हकीकत मे सारी विषमता को पैदा करने वाली है। यही होड मनुष्य के सारे श्राचरण को श्राज दभी वनाये हुए है। मनुष्य का मन श्राज सोचता कुछ श्रौर है किन्तु श्रपने वाहरी श्राचरण से वह दिखता कुछ श्रौर है श्रौर इस तरह श्रपने दुमुखी दभपूर्ण व्यवहार द्वारा वह धूर्तता का प्रचार करता है श्रौर धूर्ताई को धीरे-धीरे श्रपना पेशा वना लेता है। यह श्राज की सम्पत्ति एव सत्ता-प्रधान समाज-व्यवस्था का कुफल है।

मानवता-प्रधान समाज व्यवस्था मे चेतना, मनुष्यता एव कर्मनिष्ठा की श्रेष्ठता को प्रधानता मिलेगी। सर्वहित मे जो जितना ज्यादा त्याग करेगा, वह उतना ही पूजा जायगा। तव दृष्टि सम होने से यथार्थ वनेगी श्रौर दृष्टि वस्तु-स्वरूप को उसकी वास्तविकता मे देखेगी। जव यह श्रवलोकन सही होगा तो उसकी रोशनी मे प्रत्येक को श्रपने उत्तरदायित्वो का भान भी सही रूप मे होगा। ऐसी सचेतक स्थिति मे वह श्रपने कर्त्तव्याकर्त्तव्यो का ज्ञान भी सम्यक् प्रकार से कर सकेगा।

मानवीय गुणो के श्राधार पर ढला व्यक्ति एव समाज का जीवन तव समता की दिशा की श्रोर ही श्रभिमुख रहेगा श्रौर यह समता भी एकागी नहीं, सर्वांगीण होगी। सासारिक जीवन को जव ऐसी समता का श्राधार दे दिया जायगा तो उस जीवन से सन्त-जीवन मे प्रवेश करने वाले त्यागियो का चरित्र श्रपनी विशिष्टता को श्रतीव प्राभाविक रूप से सव श्रोर प्रकाशित करेगा। 'ज कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा'—श्रर्थात् जो ससार के सत्कर्मों मे शौर्य्य प्रदर्शित कर सकते हैं, वे कर्म-क्षेत्र मे भी श्रपना श्रपूर्व शौर्य्य श्रवश्य दिखाते हैं। समता के वातावरण मे पला-पोषा ससारी जीवन श्राध्यात्मिक क्षेत्र मे ऐसी श्रादर्श समता का विकास कर सकेगा जो श्रात्मा को परमात्मा से मिलाती है।

सिद्धान्त-दर्शन का पहला सोपान

समता दर्शन द्वारा लक्षित श्रात्मीय समता से मानवीय समता तक के इस सिद्धान्त-विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमे किस दिशा मे

गतिशील बनना है ? पहले ही सोपान पर सिद्धान्त के सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण इस तथ्य का द्योतक है कि जो कुछ करना है, सबसे पहले उसके गन्तव्य के सम्बन्ध मे प्रबुद्ध पुरुषो के दिशा-निर्देश को जानो तथा उसे हृदयगम करके अपने चिन्तन का विषय बनाओ। दूसरे सोपान 'जीवन दर्शन' मे इसी दृष्टिकोण मे ज्ञान के इस प्रकाश मे आचरण की कैसी धारा बहनी चाहिये—इसका विवेचन किया जायगा।

ज्ञान, चिन्तन एव कर्म की त्रिधार मे कही भी सत्य को आखो से ओझल न होने दिया जाय और सत्य की सारी कसौटियो मे आत्मानुभूति की कसौटी सदा जीवन्त बनी रहनी चाहिये। सिद्धान्त के प्रत्येक पहलू पर चिन्तन करते समय यदि आत्मानुभूति सजग बनी रहती है तो अन्तर मे सत्य की ज्योति भी सदा चमकती रहेगी। सत्याधारित चिन्तन का जो भीतर निष्कर्ष निकलता है, सही अर्थ मे उसे ही आत्मा की आवाज मानना चाहिये।

सत्य-दर्शन की इस विधि को न भूलें !

सत्य दर्शन के सम्बन्ध मे महावीर की स्याद्वाद विधि को सदैव याद रखें। 'स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति' की इस विधि को कई लोग नासमझी मे अनिश्चयपूर्ण कहते हैं किन्तु यदि इसे गहराई से समझा जाय तो साफ हो जायगा कि हठहीन निष्ठा से विचार-समन्वय की इस पृष्ठभूमि पर खडे होकर जितने सहज भाव से सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है—सभवत. वैसी सार्थक अन्य पृष्ठभूमि नही होगी।

कथचित् यह भी है तथा कथचित् वह भी है—इस विचार श्रेणी मे सत्य के सभी पक्षो को समक्ष रखने का आग्रह है। सात अधो और हाथी की कहानी सभी जानते हैं। जब किसी एक खास विचार के प्रति दुराग्रह बनता है तब उसकी स्थिति भी उन अधो जैसी ही हो जाती है। जिस अधे ने हाथी की पीठ पर हाथ फेरा, उसने हठपूर्वक यही कहा कि हाथी तो दीवार जैसा ही होता है। जिसने पूछ पकडी उसके हाथी को रस्सी जैसा तो जिसने पैर पकडा उसने उसे खभे जैसा बताया। इसी प्रकार सभी अन्धे अपनी-अपनी धारणा के अनुसार हाथी की आकृति बताने लगे। आकृति बतावें वहा तक

तो फिर भी कोई बात नही, किन्तु सघर्षशील विवाद करने लगे कि जो कुछ वह बना रहा है, वही सत्य है और जो कुछ दूसरा बता रहा है, वह पूर्णत असत्य है।

आज का विचार मतभेद दुराग्रहपूर्ण रुख धारण करके कुछ ऐसा ही रूप लिये हुए है। अब इस विवाद मे स्याद्वाद को लागू करें।

एक अपेक्षा से प्रत्येक अधे का अनुभव सत्य है। कथचित् हाथी दीवार जैसा है भी और पूरे तौर पर देखें तो नही भी है। यह अनिश्चितता नही है बल्कि निश्चितता को पकडने का सूत्र अवश्य है। यदि सभी अधे विवाद नही करते—एक दूसरे को सुनते और समझते, फिर सबके अनुभवो को मिलाकर सहिष्णुतापूर्वक सत्य को खोजते तो क्या वह उन्हे नही मिलता? तो ऐसे दुराग्रही विचारान्धो के लिये स्याद्वाद ऐसा नेत्रवान पुरुष है जो उनके अनुभवो को समन्वित करके सत्य के दर्शन कराता है।

किसी भी तत्त्व, स्वरूप, सम्बन्ध अथवा वस्तु के कई रूप होते है। यदि उसके सभी रूपो का ज्ञान न हो तो उसका एकागी ज्ञान अधिकतर मिथ्या की ओर ही ले जाता है। जहाँ सत्य की जिज्ञासा है, वहाँ एकागी ज्ञान भी पूर्णता प्राप्ति की ओर गति करता है किन्तु दुराग्रह मे पडकर वैसा ज्ञान अज्ञान रूप ही हो जाता है। सत्य ज्ञान दृष्टि विविध अपेक्षाओ को समक्ष कर सम्पूर्ण स्वरूप का निर्णय करती है।

आत्मानुभूति का सत्य

ज्ञान और चिन्तन की धाराओ मे जो अन्तर मे अनुभूति होती है—वह पूर्ण सत्य हो, यह आवश्यक नही। आत्मा के यथाविकास पर उसके सत्याश की गुरुता या लघुता बनती है किन्तु यह सही है कि प्रत्येक सच्ची आत्मानुभूति मे सत्याश अवश्य होता है, बशर्ते कि उसका प्रकटीकरण निश्छल हो। इस आत्मानुभूति मे यदि विनम्रता एव सत्य की जिज्ञासा हो तो हठवाद उसे बाधेगा नही तथा उन्मुक्त आत्मानुभूति जहा से भी मिलेगी, सत्याशो को सम्हालने की चेष्टा मे तल्लीन रहेगी।

समता साधक का कर्त्तव्य

समता-दर्शन के साधक का इस संदर्भ में पवित्र कर्तव्य होना चाहिये कि वह सिद्धान्तों को जानकर आत्मानुभूति की कसौटी पर कसे और सत्य-दर्शन की जिज्ञासा को सदैव जागृत रखे। इस सारी प्रक्रिया के बाद जो सत्य-सार उसे प्राप्त होगा, इस पर उसकी जो आस्था जागेगी, वह अटूट रहेगी तथा वही उसे कर्म-पथ पर सतत जागृत रखेगी।

———

: ९ :

जीवन दर्शन की क्रियाशील प्रेरणा

क्रियाहीन ज्ञान पगु होता है तो ज्ञानहीन क्रिया अन्धी निरर्थक । 'जानना, मानना और करना' का सतत क्रम ही जीवन को सार्थक बनाता है । जानने की वास्तविकता का ज्ञान करले, उस जाने हुए को चिन्तन की कसौटी पर कसकर खरा भी पहिचान लें और उसके बाद करने के नाम पर निष्क्रियता धार लें तो उससे तो कुछ बनने वाला नही है । यह दूसरी बात है कि सही जानने और मानने के बाद करने की सबल प्रेरणा जागती ही है । सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन का बल सम्यक् चरित्र का अनुप्रेरक अवश्य ही बनता है, फिर भी कर्मठता का उग्र अनुभाव उत्पन्न होना ही चाहिये ।

सिद्धान्त भी वही प्रेरणोत्पादक कहलाता है जो तदनुकूल कार्य क्षमता को जागृत बनाता है । जीवन-निर्माण का यही मूलमत्र होता है । ज्ञान और क्रिया की सयुक्त शक्ति ही मनुष्य को बन्धनो मे मुक्त करती है । चाहे वे बन्धन कैसे भी हो—विपमता या तज्जन्य विकारो के ही क्यो न हो, इस शक्ति के सामने, कभी भी टिके हुए नहीं रह सकते हैं । दृढ एव अटल सकल्प के साथ जब इस शक्ति का पग आगे बढता है तो विपमता मुक्ति भी सहज बन जाती है । व्यक्ति का अटल सकल्प अपने क्रम मे परिवार, समाज, राष्ट्र एव समूचे विश्व की सकल्प शक्ति को प्राणवान् बनाता है और यही सामूहिक प्राणशक्ति समाजगत प्रभाव लेकर ज्ञान एव क्रियाहीन व्यक्तियो को सावधान बनाती है । व्यक्ति के जागने से विकास का विशिष्ट स्तर बनता है तो समाज के जागने से सभी व्यक्तियो मे विकास का सामान्य स्तर निर्मित होता है ।

व्यक्तिगत एव समाजगत शक्तियो के ज्ञान एव क्रिया के क्षेत्र मे साथ-साथ कार्यरत होने से विकास मे भी विपमता नही रहती। इससे यह नही होता कि कुछ व्यक्ति तो अपनी उग्र साधना के वल पर विकास की चोटी पर चढ जावें और वहुसख्यक लोग पतन के खड्डे मे छटपटाते रहे। दोनो स्तरो पर विकास का क्रम साथ-साथ चलने से नीति एव न्याय तथा सुख एव समृद्धि मे सामाजिक समता की स्थापना होती है।

इसमे कोई सन्देह नही कि व्यक्ति का विकास उन्मुक्त होना चाहिये किन्तु साथ ही व्यक्ति का लक्ष्य सामाजिक समुन्नति की ओर भी हो तो सामाजिक प्रणालियाँ भी इस तरह ढलनी चाहिये कि उन्नति के इच्छुक व्यक्ति को समाज की शक्ति का वल मिले और उन्नतिशील व्यक्ति अपने हर कदम पर समाज को भी प्रगतिशील वनावें। समता का व्यापक लक्ष्य इसी व्यवस्था से सम्पन्न वन सकेगा।

एक बाती से बातियाँ जलती रहे

एक दीपक जलता है—वह प्रकाश फैलाता है। विपमता के अधकार मे समता की एक ज्योति ही आशा की नई-नई किरणो को जन्म देती है। किन्तु दीपक को देखने मात्र से दूसरा दीपक जल नही उठता है। जले हुए दीपक की बाती का जब तरल सस्पर्श बुझे दीपक की वाती को मिलता है, तभी वह जलता है। और यदि यह क्रम चलता रहे तो कौन सी शक्ति सम्पूर्ण दीपावलि को प्रकाशमान् होने से रोक सकती है?

विकास की गति मे भी यही क्रम होना चाहिये। विकासोन्मुख व्यक्ति मूर्छित व्यक्ति को अपने करुणामय प्रभाव से जगाता रहे—एक वाती से वातियाँ जलती रहे—फिर सवका समतामय विकास कैसे दूर रह सकेगा? सन्तजन आत्म-साधना भी कर सकते हैं तथा उपदेश की धारा वहाकर समाज की सेवा भी कर सकते हैं—क्या यह वाती से वाती को जलाना नही? "परोपकाराय सता विभूतय"—यह क्यो कहा गया है? क्या इसलिये नही कि परोपकार मे स्वोपकार तो स्वत. ही हो जाता है। व्यक्ति आगे बढता रहे और गिरे हुओ को उठाता रहे—यही तो जीवन-धर्म है। समता के इस जीवन-

दर्शन को पुष्ट बनाने के लिये व्यक्ति को पहले समतामय जीवन-निर्माण की दिशा मे अग्रसर होना चाहिये ।

व्यवहार, अभ्यास एव आचरण के चरण

समता दर्शन के इस दूसरे सोपान पर पैर रखते हुए व्यवहार, अभ्यास एव आचरण के चरण सन्तुलित बनने चाहिये। दर्शन के एक बिन्दु को व्यवहार मे लिया तो यह सरल नही है कि क्रिया का वह कदम तुरन्त जम जाय । साधना-पथ पर आशा-निराशा के झौंके आते है, कठिनाइयाँ मार्ग को रोकती है तो कभी मन की दुर्बलताएँ भी हताशा उत्पन्न करती हैं, अत व्यवहार के बाद अभ्यास की आवश्यकता होती है ।

अभ्यास का अर्थ होता है बार-बार उसका व्यवहार। एक सिद्धान्त को जीवन मे उतारा—कुछ व्यवहार किया और मन डगमगा गया। व्यवहार का क्रम टूट गया। किन्तु अभ्यास उसे फिर पकडता है, फिर आजमाता है और तब तक आजमाता जाता है जब तक वह मन को पूरे तौर पर भा न जाय—जीवन मे पक्के तौर पर उतर न जाय , अभ्यास की इस सफल प्रक्रिया से आचरण का निर्माण होता है ।

आचरण एक स्थायी स्थिति बन जाती है। जिस सिद्धान्त को अभ्यास से जीवन मे कार्यान्वित कर लिया वह जीवन का स्थायी अग बन जाता है—इसे ही आचरण कहते हैं। आचरण जीवन को एक साचे मे ढाल देता है । जब हम यह कहें कि व्यक्ति या समाज ने समतामय आचरण बना लिया है तो उसका यही अर्थ होगा कि समता वैयक्तिक एव सामाजिक जीवन का अभिन्न अग बन गई है । आचरण की पुष्टता ही जीवन को प्रगतिशील एव उन्नायक बनाती है ।

व्यवहार, अभ्याम एव आचरण के चरण उठाते समय इस विषय की ओर ध्यान अवश्य आकर्षित होना चाहिये कि समग्र वस्तु-ज्ञान को तीन भागो मे विभाजित किया जाय—ज्ञेय, हेय एव उपादेय। ज्ञेय वह जो सिर्फ जानने लायक है—आचरण का उससे सम्बन्ध नही। जिनका आचरण से सीधा सम्बन्ध है—वे हैं हेय और उपादेय। हेय जो छोडने लायक और उपादेय जो

ग्रहण करने लायक है। छोडने और ग्रहण करने का क्रम साथ-साथ चलता है। विपमता छोडनी है तो ममता ग्रहण करनी है। आचरण के इन चरणो मे छोडने और ग्रहण करने की गति साथ-साथ चलती रहनी चाहिये।

हेय और उपादेय के आचरण सूत्र

जीवन अविकसित है इसलिये उसका विकास करना है, अधकार होता है तभी प्रकाश पाने की उत्कठा जागती है, विषमता है इस कारण ही ममता लाने का सत्साहस पैदा होता है। तो अविकास, अधकार और विपमता—ये बुराइयाँ है। पहले बुराइयो को छोडेंगे तभी अच्छाइयाँ आ सकेंगी। बुराई हेय है और अच्छाई उपादेय। इसलिये हेय को छोडें और उपादेय को ग्रहण करते जाय—इसका व्यवहार, अभ्यास एव आचरण का क्रम क्रमश चलता रहना चाहिये।

विकास आयगा ही तव जव अविकास छूटेगा या इसे यो कहे तव भी वही वात है कि अविकास से जितनी मुक्ति मिलेगी, उतना ही विकास जीवन मे समाता जायगा। घटाटोप अधकार होता है—उसमे एक लौ जलती है, क्षीण ही सही कुछ प्रकाश फैलता है। वही लौ तेज होती है और हजार-लाख वॉल्ट का वल्व वन जाती है—चकाचौंध प्रकाश फैल जाता है, कोनो मे भी अधेरा ढूढे नही मिलता। यही जीवन मे निर्मलता के उद्गम की स्थिति होती है।

आज के विपम जीवन को देखें तो मैल ही मैल है—हेय की गिनती नही। किन्तु जव मैल धोने का काम शुरू करें—एक-एक हेय को भी छोडते रहे तो आखिर मैल कम होगा ही। ज्ञानमय आचरण की गति सुस्थिर वनी रही तो हेय एक नही वचेगा—उपादेय सभी आ मिलेंगे—फिर जीवन निर्मलता का पर्यायवाची वन जायगा।

आचरण के विभिन्न सूत्रो को समता जीवन की साधना करते समय इसी दृष्टि-विन्दु मे पकडा जाना चाहिये ताकि हेय के वन्धन कटते जाय और उपादेय के सूत्र जुडते जाँय। जीवन-दर्शन की क्रियाशील प्रेरणा को जगाने के निमित्त से इसी दृष्टि विन्दु के आधार पर यहाँ आचरण सूत्र दिये जा रहे हैं।

१ .

आचरण-शुद्धि का पहला पग :
सप्त कुव्यसन का त्याग

समता मार्ग के साधक का प्राथमिक शुद्धिरूप सप्त कुव्यसनो का त्याग तो करना ही चाहिये । ये कुव्यसन जीवन को पतन के गर्त मे डुबोनेवाले तो होते हैं, समाज मे भी इनका बुरा असर पडता है । और पतन की सभावनाओ को स्थायी भाव मिलता है । इन सात कुव्यसनो के सम्बन्ध मे निम्न जानकारी जरूरी है—

(१) मास भक्षण—समता के ससार मे प्रत्येक जीव को दूसरे जीव की रक्षा मे आस्था रखनी चाहिये—'जीवो जीवस्य रक्षणम्' । फिर मास खाने का मूल अभिप्राय ही इस वृत्ति के विपरीत जाता है । अपने लिये जीव को मारें और मास भक्षण करें—यह तो विपमता को पूजना हुआ । दूसरे स्वास्थ्य की दृष्टि से भी आज पश्चिमी ससार मे शाकाहार की आवाज उठ रही है और मास भक्षण को हानिकारक वताया जाता है । यह तामसिक भोजन विकारो को भी पैदा करता है । अत इसको छोडना अनिवार्य समझा जाना चाहिये ।

(२) मदिरा पान—देश भर मे आज शराववन्दी के वारे मे जो उग्र आन्दोलन चल रहा है तथा सरकार भी आय का लोभ नही छोड पा रही है वरना शराव की वुराई को तो त्याज्य मानती है—इससे ही शराव के कुप्रभाव का अनुमान कर लेना चाहिये । शराब को समस्त वुराइयो की जड कहदें तो भी कोई अत्युक्ति नही होगी । गाजा, भाग, धतूरा और आज की एल० एस० डी० की गोलियो आदि के सारे नशो का त्याग मदिरा त्याग के साथ ही आवश्यक समझा जाना चाहिये ।

(३) जुआ—जहाँ भी विना परिश्रम अनर्थ तरीको से धन आने का स्रोत हो उसे जुए की ही श्रेणी मे लेना चाहिये । इस नजर से सट्टा व तस्कर व्यापार भी त्याज्य हैं । विना श्रम का धन व्यसनो की बढ़ोतरी मे ही खर्च होता है ।

(४) चोरी—चोरी की व्याख्या को भी सूक्ष्म रीति से समझने की जरूरत है। दूसरे के परिश्रम की आय को व्यक्त या अव्यक्त रूप से स्वय ले लेना भी चोरी है। यही आज के आर्थिक शोषण का रूप है। टैक्स चोरी भी इसका ही दूसरा रूप है। चोरी सदा सत्य का हनन करती है, अत. त्याज्य है ही।

(५) शिकार—सर्वजीव रक्षण की भावना मे अपने मनोविनोद के लिये जीवहरण सर्वदा निन्दनीय है।

(६) परस्त्री गमन—समाज मे सैक्स की स्वस्थता को बनाये रखने के उद्देश्य से ही विवाह-सस्था का प्रारम्भ हुआ था। काम का विकार अति प्रबल होता है और उसे नियमित एव सयमित करने के लिये ससारी मनुष्य के लिये स्वस्त्री सन्तोष का व्रत बताया गया है। यदि काम के अन्धेपन को छूट दे दी जाय तो वह कितने अनर्थो एव अपराधो की लडी बाध देगा—इसका कोई हिसाब नही। परस्त्री गमन तो इस कारण भी जघन्य अपराध माना जाना चाहिये कि ऐसा दुष्ट पुरुष दो या अनेक परिवारो के सदाचरण को नष्ट करता है।

(७) वेश्या गमन—यह कुव्यसन सारे समाज के लिये घातक है जो नारी जैसे पवित्र जीवन को मोरी (नाली) के कीडो की तरह पतित बनाता है। आज राज्य और समाज इसका विरोधी बन चुका है तथा वेश्याओं के धन्धे को समाप्त कर रहा है। फिर भी व्यक्ति का सयम इसे समाप्त करने मे विशेष सहायक बन सकेगा।

इन सातो कुव्यसनो के वैयक्तिक एवं सामाजिक कुप्रभावो को ध्यान मे रखते हुए इनके त्वरित परित्याग की ओर कदम आगे बढने ही चाहिये।

: २ :

पंच व्रतो के आचरण से समता विकास की दिशा में—

हेय और उपादेय का क्रम साथ-साथ ही चलना चाहिए। सप्त कुव्यसन हेय हैं तो उनसे विपरीत सदाचरण उपादेय। इसी प्रकार अब पच व्रतो का

जो उल्लेख किया जा रहा है, वे उपादेय हैं, तो उनका विरोधी आचरण हेय माना जायगा। ये पाचो व्रत स्थूल रूप से श्रावको के लिये तो सूक्ष्म रूप से साधुओ के लिये पालनीय बताये गये हैं, अत समता के साधक को यथाशक्ति इनके पालन मे निरन्तर आगे बढते रहना चाहिये।

इन पच व्रतो के आचरण से समता विकास की दिशा मे ठोस कदम किये जा सकेंगे—

(१) अहिंसा—अहिंसा के दो पक्ष हैं—नकारात्मक एव स्वीकारात्मक। नकारात्मक तो यह कि हिंसा नही की जाय। हिंसा क्या? किसी भी जीवन-धारी के किसी भी प्राण को कष्ट पहुचाना हिंसा है। जैसे जीवन के दस प्राण माने गये हैं—श्रुतेन्द्रिय बल प्राण, चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण, घ्राणेन्द्रिय बल प्राण, रसेन्द्रिय बल प्राण, स्पर्शेन्द्रिय बल प्राण, मन बल प्राण, वचन बल प्राण, काया बल प्राण, श्वासोश्वास बल प्राण एव आयुष्य बल प्राण। अब किसी इन्द्रिय, मन, वचन, काया, श्वासोश्वास या आयुष्य के बल को कष्ट पहुचावें तो वह भी हिंसा है। कष्ट भी कैसे? उनके उचित ग्राह्य मे बाधा पहुचावें या उनके बल पर आघात करें तो उन प्राणो को कष्ट होगा। यह तो नकारात्मक बात। अब स्वीकारात्मक बात यह होगी कि प्रत्येक जीवनधारी के दसो प्राणो की रक्षा का यत्न हो—प्राणो को किसी की ओर से या स्वय कष्ट हो तो उसे यथासाध्य यथाशक्ति दूर किया जाय तथा सभी जीवनधारियो को समता के धरातल पर खडा करने की स्वय की वृत्ति बनाई जाय तथा वैसी सामाजिक प्रणाली निर्मित की जाय। अहिंसा का इसे स्थूल रूप कहेंगे।

समतापूर्ण जीवन के निर्माण मे अहिंसा को सर्वोपरि महत्ता दी गई है। वैसे भी अहिंसा को सिर्फ धर्म ही नही परमधर्म माना गया है। परम धर्म इसलिये कि जीवन सभी प्राणियो को प्रिय होता है अत सब को सुखपूर्वक जीने दिया जाय। शास्त्रो मे भी कहा गया है कि हिंसा से हिंसा बढती है और वैर से वैर। प्रत्येक सिद्धान्त के विधि और निषेध दो पक्ष होते हैं चाहे उसका उल्लेख किसी एक पक्ष से किया जाय। सामान्यतया यह उल्लेख विधि पक्ष से ही किया जाता है। किन्तु यहा अहिंसा का उल्लेख निषेध पक्ष से किया गया है अर्थात् हिंसा न करने का नाम अहिंसा है। अहिंसा का विधि पक्ष है—प्राणि रक्षण। इसका तात्पर्य यह है कि हिंसा के प्रवाह को पहले रोका जाय, कारण हिंसा के रहते सदाशयता जागती नही है।

मनुष्यो द्वारा हिंसा मे लिप्त होने के तीन कारण बताए गये है—

(१) 'इसने मुझे मारा है'—कुछ लोग इस विचार से हिंसा करते हैं, (२) 'यह मुझे मारता है'—कुछ लोग इस विचार से हिंसा करते है तथा (३) 'यह मुझे मारेगा' कुछ लोग इस विचार से हिंसा करते हैं। लेकिन हिंसा किसी भी विचार से की जाय मन मे ग्रथि बाँधती है, द्वेष उभारती है एवम् प्रतिशोध की निरन्तर जलने वाली अग्नि को प्रज्वलित रखती है। पर पीडा से हृदय की मृदुता नष्ट होती है जो उसका स्वाभाविक गुण माना गया है। हिंसा को जिन अशो मे छोडते जाते हैं उतने अशो मे अहिंसा की भावना फैलती जाती है एवम् जब अहिंसा की भावना परिपुष्ट बनती है तो उसका विधिरूप उभर कर सामने आता है। यह रूप दया और करुणा का रूप होता है जिसके अस्तित्व मे आने पर समता का अनुभाव भी प्रखर बनता है क्योकि दया अथवा करुणा अपनी श्रेष्ठतम कोमलता के साथ किसी प्रकार का भेद स्वीकारती ही नही है। जो भी दया का पात्र दीखेगा उसके लिये हृदय पिघल जायगा और सहानुभूति सक्रिय बन जायेगी। अहिंसा की आराधना से जो दृष्टि मिलती है वह समदृष्टि होती है और उसमे शत्रु तथा मित्र के भेद को भी स्थान नही होता है।

अहिंसा की उत्कृष्टता के सम्बन्ध मे वीतराग देव की आज्ञा है—'हम ऐसा कहते है, ऐसा बोलते हैं, ऐसी प्ररूपणा करते हैं, ऐसी प्रज्ञापना करते है कि किसी भी प्राणी, किसी भी भूत, किसी भी जीव और किसी भी सत्व को न मारना चाहिये, न उन पर अनुचित शासन करना चाहिये, न उनको दासो के समान पराधीन बनाना चाहिये, न उन्हे परिताप देना चाहिये और न उनके प्रति किसी प्रकार का उपद्रव करना चाहिये। अहिसा को दूसरो के गले भली प्रकार उतारने की भी शास्त्र मे विधि बताई गई है—सर्व प्रथम विभिन्न मतमतान्तरो के प्रतिपाद्य सिद्धान्तो को जानना चाहिये और फिर हिंसा प्रति पादक मतवादियो से पूछना चाहिये कि—हे प्रवादियो, तुम्हे सुख प्रिय लगता है या दुःख ? 'हमे दुःख अप्रिय है, सुख नही।'—यह सम्यक् स्वीकार कर लेने पर उन्हे स्पष्ट कहना चाहिये कि 'तुम्हारी ही तरह विश्व के समस्त प्राणी, जीव, भूत और सत्व को भी दुःख अशाति एव व्याकुलता देने वाला है, महाभय का कारण है और कष्ट रूप है, अतः स्वय दुःख नही चाहते हो तो

किसी अन्य को भी दु ख मत दो। तुम स्वय सुख चाहते हो तो अन्य सभी को भी सुख देने की ही चेष्टा रखो।

जब ससार के सभी प्राणियो को सुख प्रिय है और दु ख अप्रिय तो प्रियकारी कार्य से प्रेय और श्रेय की वृद्धि होती है तथा अप्रियकारी कार्य से वैर और हिंसा वढती है। हिंसा से विषमता वढती है जबकि अहिंसा के प्रभाव से समभाव सुदृढ वनता जाता है। समाज एव राष्ट्र की वर्तमान परिस्थितियों मे हिंसा जगल की आग की तरह जिस तेजी से फैल रही है वह आज गम्भीरता से सोचने जैसी स्थिति है। आज देश के भिन्न-भिन्न भागो मे किसी आदोलन के नाम पर अथवा अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिये जिस निर्ममता से हिंसा का रास्ता पकड लिया गया है, यदि समय रहते देशवासियो को इस रास्ते पर आगे वढने से नही रोका जायेगा तो परिणाम कितने विस्फोटक या घातक हो जाय उसकी कल्पना कठिन है। इस दृष्टि से कल की अपेक्षा आज ही सचेत होना जरूरी है।

जिस विष भरी औषधि से शरीर को हानि पहुँच रही है, उस हानि से वचने का पहला उपाय यही हो सकता है कि वह औषधि वन्द कर दी जाय और फिर लाभकारी औषधि शुरु की जाय। इसलिये आज इसके अलावा अन्य कोई उपाय नही है कि सवसे पहले हिंसा रोकी जाय। ज्यो ही हिंसा के भय से छुटकारा मिलेगा अहिंसा एव समता की भावना अपने आप ही उपजेगी। यह तो अहिंसा के स्थूल रूप की ही चर्चा की गई है किन्तु उसका सूक्ष्म रूप वहुत ही गूढ है।

अहिंसा का सूक्ष्म रूप मन से सम्वन्धित है। मानसिक एव वैचारिक रूप से भी किसी के मन को कष्ट न दें तथा जहाँ ऐसा मतभेद हो वहाँ उसे स्वस्थ रीति से दूर करें—यह भी आवश्यक है। इन्द्रियो को कष्ट के भाव से कष्ट न पहुँचाना या कष्ट दूर करना उनके द्वारा भोग्यपदार्थों के समुचित वितरण पर निर्भर करेगा। इस प्रकार अहिंसा का व्यापक रूप समाज मे व्यक्ति के सम-जीवन के निर्धारण में पूर्णरूप से सक्षम एव प्रभावकारी हो सकता है।

(२) सत्य—सत्य क्या और मिथ्या क्या—यह पूर्णत आत्मा की ज्ञान एव चिन्तन दशा तथा अन्तर-अनुभूति के निर्णायक विषय हैं। इनके

स्थूल रूप तो सभी प्राणियो के बोध-गम्य हो जाते हैं, जो इन्द्रियो के माध्यम से जाने जाते हैं, जो आँखो से देखा है– वह सच और उसके खिलाफ कहा जाय तो वह झूठ। इसी आधार को सामान्य जन के मानस से विशिष्ट महापुरुषो के मानस तक ले जावें तो यह कहा जायगा कि वे अन्तर्दर्शन से जीवन के जिन अज्ञात सत्यो की शोध करते है, वह शोध सामान्य जन के लिये अनुकरणीय हो जाती है और तब उसी शोध के आधार पर सत्यासत्य का निर्णय किया जाता है। जैसे वीतराग वाणी को सत्य कहते हैं—इसलिये कि आत्मोन्नति की उच्चस्थ श्रेणियो मे राग-द्वेष से विहीन होकर निरपेक्ष भाव से जो सत्यावलोकन वीतराग पुरुषो ने किया, वह आदर्श बन गया। वह एक तरह से प्रकाश स्तम्भ का काम करता है कि उसे देखकर जीवन के अधेरो को पार किया जाय।

शास्त्रो मे सत्य को स्वय भगवान् कहा है क्योंकि सत्य की दिव्यता और प्रखरता सत्य के साधक को ईश्वरत्व के समीप पहुँचा देती है। कहा है—सत्य की साधना करने वाला साधक सब ओर दुखो से घिरा रह कर भी घबराता नही है, विचलित नही होता है। किसी ने पूछा कि सत्य द्रष्टा को कोई उपाधि होती है या नही ? तो वीतराग देव का यही उत्तर मिला कि कोई उपाधि नही होती है! सत्यम् ब्रूयात्, प्रिय ब्रूयात् की तरह यह भी निर्देश दिया गया है कि ऐसा सत्य भी न बोलें जिससे पाप कार्य की उत्पत्ति होती हो। सत्य की साधना मनसा, वाचा एव कर्मणा होनी चाहिये।

असत्य अथवा मृषावाद का जन्म, क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि काषायिक वृत्तियों की बहुलता से होता है। झूठ कोई भी आदमी जानकर बोलता है। जो जैसा देखता है, जैसा सुनता है अथवा जैसा महसूस करता है, उसको उसी रूप मे प्रकट करने मे कभी कोई कठिनाई नही आती है, लेकिन यथावत् को यथावत् न बताकर उसे विकृत बनाकर कहने मे दुर्बुद्धि का प्रयोग करना पडता है जो जानकर ही किया जा सकता है। झूठ बोलने की जरूरत भी आदमी अपने किसी मतलब के कारण ही समझता है। स्वार्थ, तृष्णा अथवा लिप्सा के वशीभूत होकर जब एक झूठ बोला जाता है तो उस झूठ को सत्य का रूप देने की कुचेष्टा मे लडीबन्द झूठ बोलना पड जाता है। झूठ बोलते-बोलते ऐसी धृष्टता पैदा हो जाती है कि फिर उसे झूठ बोलते

रहना अखरता नही। यह मृषावाद वैचारिक दृष्टि से मिथ्यावाद मे पनपता है और मिथ्यावादी समदृष्टि नही बन सकता। मिथ्यात्व छूटेगा तभी सम्यक्त्व आ सकेगा। समता साधना की पहली सीढी सम्यक्त्व के रूप मे बत ई गई है।

पृष्ठ भूमि का एक तथ्य सभी मे समानरूप से दिखाई देता है कि अन्धकार को दूर करेंगे तभी प्रकाश की आभा फूटेगी अथवा यों कहे कि प्रकाश की किरण के आते ही अंधकार मिटने लगेगा। इसी प्रकार सत्य की साधना मे सफलता का श्री गणेश तभी हो सकेगा जब मिथ्यावाद की ग्रथियाँ काटने मे सफलता मिलनी शुरु होगी। इसके लिये दृष्टिकोण की विशालता आवश्यक है। अपने स्वार्थों के घेरो को तोडना होगा तथा सकुचित धारणाओ को छोडना होगा। हृदय मे ज्यो-ज्यो उदारता का विस्तार होता जायेगा मिथ्यावाद की निरर्थकता स्पष्ट होती जायेगी। तब सत्य की साधना के प्रति निष्ठा सजग भी बनेगी तो सुदृढ़ भी। एक बार सत्य के प्रति निष्ठा जग जाने के बाद उसके पूर्ण रूप को पाने की ललक बलवती हो जायगी।

सत्य का साधक समदृष्टि होता ही है और वह अपने अन्तर्मन मे जहाँ वीतरागता की ओर आगे बढता है वही अपने बाह्य व्यवहार मे भी सबके साथ सदाशयी समानता का ही उपभोग करता है। सही परिप्रेक्ष्य मे देखे तो एक समता की साधना से अहिंसा की भी साधना बनती है तो सत्य की भी साधना बनती है।

सभी प्रकार से मिथ्या को छोडना एव सत्य का अनुकरण एव अनुशीलन करना समता साधक का कर्त्तव्य है। लौकिक वस्तुस्थिति हो या अलौकिक—सत्य सदा जीवन के साथ होना चाहिये। सत्य साथ तभी सुदृढता से रह सकेगा जब उसके स्तर से आत्मानुभूति को विचार ,एव आचार की उत्कृष्टता एव शुद्धता के बल पर विकसित कर ली जाय। सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार ही जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है—वह तभी होता है जब जीवन-विकास विकास की चोटी पर चढ जाय। इसलिये सत्य के प्रति सतत निष्ठा मनुष्य को समता की परम श्रेष्ठता तक पहुचाती है।

(३) अस्तेय—व्यक्ति के एकाकी जीवन मे समाज मे प्रतिक्षण गुथे हुए उसके आज के जीवन तक जो सासारिक परिस्थितियो का विकास हुआ है, उसमे अर्थ, सम्पत्ति या परिग्रह तथा उसके अधिकार सम्बन्धो का अमित प्रभाव रहा है। जब व्यक्ति का प्रकृति आधारित जीवनयापन छूट गया और वह स्वय अर्जन करने लगा तभी से अर्थ का असर भी आरम्भ हुआ। जो ज्यादा कमाता और कमाकर उसकी रक्षा मे भी समर्थ बनता वह समाज मे भी अधिक शक्तिशाली कहलाता। जो कमा लेता, मगर उसकी सुरक्षा का सामर्थ्य पैदा नही कर सकता था, वह फिर भी कमजोर वर्ग मे ही रहता।

चोरी का अध्याय यहीं से शुरू होता है जब समर्थ कमजोर की सम्पत्ति हरने लगा। चोर पूरा समर्थ होता तो डाकू बन जाता, कम समर्थ होता तो चुपके से चोरी कर लेता। अब आज की जटिल आर्थिक परिस्थितियो मे चोरी के रूप भी जटिल हो गये हैं। एक कारखाने मे एक मजदूर दिन भर मे दस रुपये के मूल्य का उत्पादन करता है और यदि उसे चार रुपया ही मजदूरी दी जाती है जबकि कानूनन उन चार रुपये को पाच या अधिक दिखाया जाता है तो यह पाच या अधिक रुपये प्रति दिन की प्रति मजदूर से चोरी हुई। इस चोरी को खुले तौर पर चोरी समझा नही जाता है तथा चोर को प्रतिष्ठा ही मिलती है—यह दूसरी बात है। तो अस्तेय का अर्थ है चोरी के स्थूल या सूक्ष्म सभी रूपो को निरन्तर छोडते जाना तथा अचौर्य्य व्रत को सुदृढ बनाते जाना।

स्तेय अथवा अदत्तादान की ओर पतन लोभ के कारण ही होता है। मनुष्य को जीवन निर्वाह के लिये अर्थ का उपार्जन करना होता है। सामान्यत यह उपार्जन अपने परिश्रम के आधार पर ही किया जाता है। परिश्रम और नैतिकता के द्वारा उपार्जन करने पर अर्थ का सचय सम्भव नही होता है। लेकिन जब मनुष्य के मन में तृष्णा हिलोरें लेने लगती है तब वह सही आवश्यकता सम्बन्धी भान भूल जाता है और अधिकाधिक धन सचय के लिये पागल हो उठता है। कहा है—इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त होती हैं तथा तृष्णा का रूप वैतरणी नदी के समान है अर्थात् इच्छाओ की तुष्टि कभी सम्भव नही तथा तृष्णा का अन्त कभी आता ही नही। ऐसी तृष्णा के पीछे जब मनुष्य दौडने लगता है तब उसके सामने एक ही लक्ष्य दिखाई देता है कि धन का अपार सग्रह किया जाय। इस लिप्सा के साथ ही

वह परिश्रम एव नैतिकता के मार्ग को त्याग देता है और अनीति का ऐसा मार्ग अपनाता है जो उसके लक्ष्य को आगे वढा सके ।

अपार धन सग्रह के लोभ के कारण वह पथ-भ्रष्ट होकर स्तेय अथवा अदत्तादान की कालिमामय दिशा की तरफ चल पडता है । वर्तमान युग मे जहाँ अर्थोपार्जन के उपाय जटिल और छल-छद्म भरे हो गये हैं वहाँ आर्थिक क्षेत्र मे चोरी के उपाय भी काफी टेढे-मेढे यौर कुटिल वन गये है । आज चोरी कितनी कुख्यात हो गई है कि नम्वर दो की रकम को सभी समझते है । हमारे अपने देश मे भी नम्वर दो की याने कि चोरी की इतनी अधिक मुद्रा सचित हो गई है जो शायद कानूनी मुद्रा से भी अधिक वताई जाती है । चोरी के उपाय इतने अधिक वढ गये हैं कि उनको अपनाने के लिये तृष्णावान लालायित रहते हैं । तथा चोरी से आय इतनी अधिक वढ गई है कि लोग धन-सगह करके सहानुभूति और सहयोग को तिलाजलि देकर विलासिता के रग-राग मे डूवे रहते हैं ।

एक व्यापारी सामान्य रूप से व्यापार करने मे अव कम रुचि रखने लगा है । वह किसी ऐसे काले धन्धे को ढू ढता है जिसके जरिये रातो रात वारे न्यारे कर सके । व्यापारी की इस तृष्णा ने कालावजारी और चोर वाजारी जैसी कुत्सित प्रवृत्तियो को पैदा की है । व्यापारी के पास धन सग्रह वढने लगा तो राजनेता भी ललचाया और उसने राजनीत्ति की धुरी धन पर टिका दी । फलस्वरूप आज के लोकतन्त्रीय चुनावो मे विजय लोकप्रियता की परिचायिका न रहकर धन और प्रपच की तकनीक वन गई है । धन सग्रह की इस होड मे भला अधिकारी पीछे कैसे रहता ? उसने अपनी कडिया व्यापारी और राजनेता से जोडी तथा रिश्वत का वाजार गर्म कर दिया । धन सग्रह की इसी अ धी दौड मे असामाजिक तत्वो ने तस्करी और अपराध-वृत्ति की सहायता से मिनिटो मे लाखो वनाने शुरू कर दिये । इस तरह चोरी के इन फूलते-फलते रूपो मे सारा समाज और राष्ट्र जकड गया है । लोग चोरी से ही कमाना, चोरी से ही खाना और चोरी से ही खर्च करना पसन्द करने लगे है । इन मुफ्तखोरो की वजह से परिश्रम और कठोर परिश्रम का भार किसान और मजदूर वर्ग पर आ गिरा है जो इतना करने पर भी भूखे रहता है । इसलिये सम्पूर्ण समाज मे समता का प्रवाह वहाना है तो चोरी की इन चट्टानो को हटानी ही होगी ।

आज के अर्थ-प्रधान युग मे अस्तेय व्रत का वहुत ही महत्व है । चाहे मजदूर की चोरी हो या सरकार की चोरी—सभी चोरिया न्यूनाधिक रूप से निन्दनीय मानी जानी चाहिये । अस्तेय व्रत का यह असर होना चाहिये कि ससार मे सभी नीतिपूर्वक अर्जन करें और जो भी अर्जन करें, वह स्वय के शुद्ध श्रम पर आधारित होना चाहिये । यह श्रम भी समाजोपयोगी श्रम होना चाहिये । व्यक्ति का श्रमनिष्ठ अर्जन व्यक्ति और समाज दोनो के जीवन मे नैतिकता, शुद्धता एव समता का सचार करेगा ।

४. ब्रह्मचर्य्य - गहराई से देखा जाय तो ससार की सारी समस्याओ का निचोड दो समस्याओ मे लिया जा सकता है और वे दो समस्याए हैं—१ रोटी की समस्या और २ सैक्स की समस्या । सैक्स अर्थात् काम की वासना । किसी भी जीवधारी मे सामान्यतया आहार, निद्रा व भय के अलावा मिथुन वृत्ति को भी कर्म-प्रकृति-प्रदत्त अनादि माना गया है । ससार के क्रम को वनाये रखने वाला यह मिथुन भी होना है । काम प्रजनन और वासना का कारण होता है और प्रजनन से ससार का क्रम चलता है ।

काम-वासना का वेग अति प्रबल होता है और इस अन्धड मे कई वार वडे-वडे ऋषि-महर्षि भी गिरकर चकनाचूर हो जाते हैं । अत इसे नियमित एव सयमित करने के प्रयास भी वरावर चलते रहे है । काम-जय करके निर्विकारी पुरुषो ने श्रेष्ठ आदर्शो की स्थापना भी इस दिशा मे की है । सासारिक जीवन मे मिथुन की मर्यादा की गई है तो साधु जीवन मे इस विकार को मन से भी निकाल देने की प्रेरणा दी गई है ।

सासारिक जीवन मे विवाह एव परिवार संस्थाओ के निर्माण का लक्ष्य काम वासना को नियमित करना था । उन्मुक्त सैक्स को समाज के लिये घातक माना गया । काम-वासना के पागलपन को जितने अ शो मे रोका जा सकता है, उतनी ही व्यवहार-स्वस्थता व्यक्ति मे उभरेगी । कानूनो का भी इस दिशा मे यही लक्ष्य रहा है ।

वर्तमान समय मे घोर आर्थिक विषमता के कारण भी दुराचरण मे वृद्धि आई है । एक ओर जनसख्या की वढोत्तरी पर अ कुश लगाने की वात

तो सोची जाती है लेकिन उसके लिये सयम को प्रोत्साहन देने की बात लोगो की समझ मे नही आती । जनसख्या निरोध के जो अप्राकृतिक उपाय प्रचलित किये जा रहे हैं उनसे सयम और ब्रह्मचर्य्य व्रत की अपार हानि हो रही है। परिवार नियोजन के क्षेत्र मे सबसे अधिक सफलता सयम के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है । शासन को परिवार नियोजन का प्रचार करते समय सयम को अधिक प्रोत्साहन देना चाहिये ।

आत्म-साधना मे तपस्या को बडा महत्व दिया गया है और तप मे प्रमुख माना गया है ब्रह्मचर्य्य । जहाँ साधु सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य्य का पालन करता है वहा गृहस्थ पर भी स्वपत्नी सतोष की मर्यादा लगाई गई । यदि अनियन्त्रित रहे तो कामाग्नि कितना अनर्थ करे—उसकी कोई सीमा नही रहती है इस कारण गृहस्थो के लिये विवाह सस्था है तो साधुओ के लिये सयम का पथ, ताकि काम वासना का फैलाव नियन्त्रण मे रखा जा सके । जब ब्रह्मचर्य्य की पालना नही होती है तो सद्‌गुणो का भी ह्रास होता जाता है । ममत्व के क्षेत्र मे भी काम मोह को सर्वाधिक जटिल माना गया है । यह जितना जटिल होता है उतना ही इसका त्याग भी कठिन होता है । काम-मोह को काट दें तो बाकी सारे मोह खुद ही कट जाते हैं । मोह मन की माया होता है और उसे मन के निग्रह से ही मिटाया जा सकता है ।

काम-वासना के निरोध एव उन्मूलन मे बलात् प्रयोगो की अपेक्षा स्वेच्छित प्रयोग ही अधिक हो सफलसकता है और वह प्रयोग है ब्रह्मचर्य्य का । अपनी इच्छा एव सकल्प शक्ति के जरिये मिथुन-वृत्ति को धीरे- धीरे वैचारिक, वाचनिक एव कायिक तीनो रूपो मे नियन्त्रित करें—यह ब्रह्मचर्य की आराधना होगी । ब्रह्मचर्य्य का तेज समता साधना मे परम सहायक होगा । इसका व्यापक अर्थ भी है, पर यहाँ नही दिया जा रहा है ।

५ अपरिग्रह— भौतिक साधन एव उनमे रहने वाले ममत्व भाव को परिग्रह के रूप मे परिभाषित किया गया है। जिसमे भी मुख्य ममत्व या मूर्छा को माना गया है । परिग्रह परिग्रह के प्रति मूर्छा को उत्पन्न करता है । और जीवन मे जितनी मूर्छा गहरी होती है, जागृति उतनी ही लुप्त होती चली जाती है। आत्मा की चेतना को भुलाने वाला यह परिग्रह को अधिक से

अधिक प्राप्त करने की अन्तहीन वितृष्णा। यही अन्तहीन वितृष्णा विषमता की मा होती है। व्यक्ति की वितृष्णा बढती है तब वह नीति छोडकर येन केन प्रकारेण धनार्जन एव धन-सचय करना चाहता है—सारा विवेक, सदाशय एव न्याय-विचार खोकर तब विषमता का दौरदौरा चलता है। भाई सगे भाई को अपना मानना छोडने लगता है। भाई, पिता, माता, धर्म और ईश्वर सभी का स्थान एक परिग्रही के लिये तृष्णा ले लेती है।

जब तक जीवन निर्वाह का क्रम सीधा-साधा बना रहता है तब तक तृष्णा का दौरदौरा तीव्र नही होता है। जब आवश्यकताए अल्प रहती हैं तो उनकी पूर्ति हेतु धन की भी मामूली ही जरूरत होती है। सीमित धन की आवश्यकता रहने पर कोई भी मुफ्तखोरी करना मुश्किल से ही चाहेगा। थोडा धन कमाने के लिये कोई परिश्रम भी करना चाहेगा तो नैतिकता को छोडना भी पसन्द नही करेगा। इसलिये कहा गया कि सादे जीवन के साथ ही उच्च विचारो का सयोग बैठता है। जब आवश्यकताओ की पूर्ति सही उपायो से बन जाती है तो क्यो कोई अनीति के मार्ग पर आगे बढ़ेगा ? इस देश मे भी जब तक सादे जीवन का चलन था, न आज जैसी तृष्णा थी और न आज जैसे धन कमाने के अनैतिक उपाय ही प्रयोग मे लाये जाते थे। उस सादे जीवन को छोडकर जब से पश्चिमी सभ्यता का अन्धा-अनुकरण किया जाने लगा है तब से लोगो की आवश्यकताएं सुरसा की नाक की तरह बढती रही है और उन्हे पूरी करने के लिये लोग तरह-तरह के भ्रष्टाचरण मे लिप्त होते जा रहे है। इस तरह परिग्रहवाद या पू जीवाद का असर भयानक रूप से फैल रहा है। इसी के साथ आर्थिक विषमता भयानक रूप से फैल रही है जिसके कुप्रभाव से अन्य सामाजिक विषमताओ की खाई भी निरन्तर चौडी होती जा रही है।

यह कहा जा सकता है कि आर्थिक आपाधापी के इस युग मे चेतना शून्यता अपने 'अति' के बिन्दु तक पहु च गई है। आज बाह्य परिग्रह बहुतो के पास नहीं है या कम है किन्तु परिग्रह के प्रति घोर ममत्व अधिकाश लोगो के मन मे समाया हुआ दिखाई देता है। हकीकत मे विषमता जितनी गहरी होती है, परिग्रह के ममत्व का फैलाव भी उतना ही विस्तृत हो जाता है। जिस वर्ग के पास परिग्रह की बहुलता होती है, तो उसकी परिग्रह के प्रति

मूर्छा भी घनी बनी हुई रहती है। उसकी उस मूर्छा मे मतवालापन अधिक होता है जो सामाजिक व्यवहार मे आक्रामक बन जाता है। इस तरह सम्पन्न वर्ग परिग्रह की मूर्छा के साथ समाज मे अन्याय और अत्याचार पर उतरा हुआ रहता है। दूसरी ओर वह वर्ग जिसके पास सामान्य परिग्रह भी सुलभ नही होता, निर्वाहगत कष्टो से पीडित रहता है और सम्पन्न वर्ग की विलासिता को देखता है तो उसके मन मे भी परिग्रह के प्रति मोह तथा उसे पाने की उग्र लालसा गहरा जाती है। परिग्रह का मोह इस प्रकार के सारे वर्गों को अपने पाश मे जकड लेता है। मोह की ऐसी जकड मे जहा समता का प्रसार कठिन होता है वहा वह अनिवार्य भी हो जाता है।

वर्तमान परिग्रह-मूर्छा एव विपमता के वातावरण का अन्त दूर नही माना जाना चाहिये क्योकि 'अति' के विन्दु के बाद परिवर्तन का दौर ही आता है। आज सारा समाज परिग्रह मूर्छा के दुष्परिणाम भुगत रहा है कि कही सदाशयता की भावना नही, सुरक्षा एव सहयोग का आधार नही। चारो ओर स्वार्थ की दौड-भाग मची हुई है—कोई किसी को देखता नही, कोई किसी की सुनता नही और कोई किसी के दु ख-दर्द को महसूसता नही। इसलिये समता प्रसार के लिये परिग्रह के प्रति मूर्छा घटे—ऐसे त्वरित उपाय करने होंगे।

समता का सबसे बडा शत्रु परिग्रह है, अत अपरिग्रह व्रत इसके गूढार्थ मे समझा जाना चाहिये तथा व्यवहार मे सिर्फ पदार्थों के त्याग को ही नही, तृष्णा-त्याग को अधिकतम महत्व दिया जाना चाहिये। इस धन लोल्युपता ने आज के विपम ससार मे जो हाहाकार मचा रखा है और मानवता को कुचल रखा है—इसके रहते समता व्यवस्था को आशा दुराशा मात्र होगी। परिग्रह मे धन-सम्पत्ति के सिवाय सत्ता, पद या यश सभी का समावेश हो जाता है। परिग्रह की समतापूर्ण व्यवस्था हो—उसका ससार मे जीवन-सचालन के लिये उपयोग भी हो, किन्तु उसके प्रति ममत्व-मूर्छा क्षीण हो जायगी तो परिग्रह फिर अनर्थकारी नही रह जायेगा, वह जीवन के स्वस्थ सचालन का साधन मात्र हो जायगा।

साधु को भी रोटी चाहिये, किन्तु वह रोटी के प्रति ममत्व नही रखता—निरपेक्ष भाव से उसे ग्रहण करता है। उसी तरह जब जीवन के

लिये परिग्रह होगा—परिग्रह के लिए जीवन को मिट्टी मे नही मिलाया जायगा तभी समता जीवन का अभ्युदय हो सकेगा। यही अपरिग्रह व्रत का गूढार्थ है।

इन पाच व्रतो का यथा शक्ति यथाविकास पालन ज्यो-ज्यो जीवन मे वढता जायगा, निश्चित है व्यक्ति के इस पालन का सामाजिक प्रभाव होगा और दोनो प्रभाव मिलकर समता-विकास के लिये सुन्दर वातावरण की रचना करेंगे।

२

क्षेत्र की गरिमा एव पद की
मर्यादा के अनुसार प्रामाणिकता—

अर्थ प्रधान युग का मानसिक दृष्टि से यह भी एक भयकर कुपरिणाम माना जाना चाहिये कि आज का मानव अधिक से अधिक दभी और पाखडी (हिप्पोक्रेट) वनता जा रहा है। जो जीवन मे प्रामाणिक रहना भी चाहता है, अधिक बार वातावरण उसे प्रामाणिक नही रहने देता। वर्तमान समाज व राज की जो व्यवस्था है—इसने भी पाखड वृत्ति को काफी वढाया है। समाज का समूचा वातावरण ऐसा बन गया है कि जो है कुछ और तथा अपने को वत.ता है कुछ और—वैसा दभी एक के बाद दूसरी सफलताए प्राप्त करता रहता है—राजनीति और समाज मे ऊची से ऊची प्रतिष्ठा तथा ऊचे पद पाता रहता है। इसके विपरित जो अन्दर वाहर को एक रूप मे प्रकट करता हुआ चलना चाहता हैं, उसके सामने पग-पग पर कठिनाइया आती हैं। उसकी उन्नति तो दूर—सामान्य रूप से चलना भी दूभर हो जाता है। यह व्यक्ति और समाज की विषमताओ का कुफल है।

विडम्बना तो यह है कि लोग जिसके पाखड को जान लेते है उसे भी इसलिये प्रतिष्ठा देते रहते हैं कि वह सफल होता जा रहा है। इसका सीधा असर जन मानस पर यह होता हैं कि दभ और पाखण्ड को ग्रहण किया जाय। यह उच्च वर्ग का विष आज इस तरह सब ओर रमने लगा है कि दिया लेकर भी प्रामाणिकता को खोज निकालना कठिन हो गया है। दभ, छल, कपट और

पाखण्ड आज की व्यावहारिकता के सूत्र बनते जा रहे हैं। इसका एक सादा सा उदाहरण लें। एक सज्जन व्यक्ति से किसी ने दस रुपये का नोट उधार मागा। नोट उसकी जेब मे है, किन्तु मागने वाले की अप्रामाणिकता के कारण वह उसे उधार देना नही चाहता तो उसे स्पष्ट इन्कार करके उसके चरित्र के प्रति सजग बनाना चाहिये। किन्तु वह व्यावहारिकता के चक्कर मे पड जाता है कि व्यर्थ मे क्यो किसी को नाराज करें— इस कारण वह झट जवाब दे देता है—इस समय उसके पास रुपये नही हैं। साप भी नही मरा, लाठी भी नही टूटी—यह व्यावहारिकता बन रही है।

प्रामाणिकता की जीवन के सभी अ गो मे प्राण प्रतिष्ठा आज की प्रबल आवश्यकता है और यह उच्चवर्ग का प्रमुख दायित्व है। जो जितने अच्छे क्षेत्र मे काम करता है और जितने ऊचे पद पर जाता है, उसकी प्रामाणिकता के प्रति अधिक से अधिक जिम्मेदारी बनती है—इसी कारण यहा की गरिमा एव पद की मर्यादा के अनुसार प्रामाणिकता लाने पर बल दिया जा रहा है। प्रामाणिकता की धारा उन लोगो से बहेगी तभी वह सारे समाज मे फैलेगी जो समाज मे किसी भी नजर से जिम्मेदार जगहो पर काम करते है अथवा परम आध्यात्मिक हैं।

जहां पाखण्ड, दभ या हिप्पोक्रेसी है, वहा मन, वाणी और कर्म की एकरूपता का प्रश्न ही नही, तो उस आचरण से भयकर विषमता ही तो फैलेगी। समता लानी है तो दभी-वृत्ति को मिटानी पडेगी और जितना अधिक दायित्व, उतना ही अधिक प्रामाणिक बनना होगा। यह पाखण्ड तो मूल पर ही आघात करता है चाहे वह समता सासारिक क्षेत्र से सम्बन्ध रखती हो अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र से। आध्यामिक क्षेत्र मे तो पाखण्ड का अस्तित्व ही घातक होता है, जबकि वस्तुस्थिति ऐसी भी है कि धर्म और सम्प्रदायो के नाम पर भी भयकर पाखण्ड चलता है। यह जटिल और विषम स्थिति है।

समता धातक के जीवन का प्रत्येक विचार, वचन और कार्य प्रामाणिक बना रहना चाहिये। दभ या पाखण्ड का किसी भी रूप मे उससे छूना भी जघन्य अपराध माना जाना चाहिये। अप्रामाणिकता जब तक है, जीवन मे सच्चा ज्ञान नही आ सकता, सच्चा चिन्तन नही हो सकता—तब आचरण की

सच्चाई का बनना तो सम्भव ही नही है। सबमे बड़ा परिवर्तन आज के इस अप्रामाणिक जीवन मे लाना है—इसे कतई नही भूलें।

: ४ :

निष्कपट भाव से मर्यादा, नियम एवं संयम का अनुपालन

कपट न रहने पर प्रामाणिकता आती है और इसके आने पर जीवन मे एक स्वस्थ एव व्यवस्थित परिपाटी के निर्माण का संकल्प जागता है। इसी व्यवस्था का नाम है मर्यादा, नियम एव सयम का अनुपालन। मर्यादाएं वे, जो समाज एवं व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धो के सुचारु रूप से निर्वहन के हित परम्पराओ के रूप मे ढल गई हैं। परम्पराओ के लिये भी परख बुद्धि की जरूरत होगी। कई वार अज्ञान दशा मे गलत परम्पराएं भी वन जाती हैं अथवा भावशून्य हो जाने से जो कालावधि मे परम्पराए रूढ भी हो जाती हैं। अत ऐसी परम्पराओ को मर्यादा रूप मे स्वीकार करना चाहिये जो समता जीवन को पुष्ट करती रही है। अथवा आज भी वह क्षमता उनमे विद्यमान है। मर्यादाओं के निर्वाह मे भी केवल अन्धानुकरण नहीं होना चाहिये।

सामाजिक नियम वे जो व्यक्ति या किसी भी प्रकार के सगठन के अनुशासन हेतु बनाये जाते हैं और सम्बन्धितो द्वारा स्वीकार किये जाते हैं। नियम वे ही नही जो लेखबद्ध हो वल्कि वे भी जो आदर्श रूप हो। विकास की गति एक सी नही होती, अतः नियम भी सदा एक से नही रहते। यथा-समय यथाविकास उनमे परिवर्तन आते रहते हैं किन्तु उनका उद्देश्य सदा एक सा रहता है कि उनका अनुपालन करके समाज एव व्यक्ति के सम्बन्धो मे तथा स्वय व्यक्ति के जीवन में भी अनुशासन रहे और दृष्टि सम बने।

आधुनिक विधि के क्षेत्र मे तो यह बात गौरव से कही जाती है कि लोकतन्त्र मे व्यक्ति का राज नही होता वल्कि कानून का राज होता है। बड़ा से बड़ा और छोटा से छोटा व्यक्ति भी कानून के सामने समान गिना जाता है। इसे कानून कहिये या नियम—इसका मूल बहुमत की इच्छा मे

होता है अथवा यो कहे कि सब सम्बन्धितो की स्वीकृत इच्छा के आधार पर ही नियमो की सृष्टि होती है जिसे सामाजिक शक्ति के रूप मे देखा जा सकता है। तब व्यक्ति बडा नही रहता—कानून या नियम बडा हो जाता है और उनके द्वारा व्यक्ति के जीवन को नियन्त्रित तथा सन्तुलित रखा जाता है। इस कारण नियम को विशेष महत्व है और नियम की व्यवस्था से सयुक्त जीवन को ही नियमित जीवन कहा जाता है।

समता का क्षेत्र नियम तक ही नही है। नियम बने, उसका पालन न हो तो दण्ड व्यवस्था भी काम करे, किन्तु इनसे व्यक्ति के हृदय मे परिवर्तन लाना कम सभव होता है। किसी को उसके अपराधो के लिये दडित करना आसान नही होता। इसके लिये सयम की आवश्यकता होती है। नियम भग करने वाले के सामने अगर कोई अपना प्राप्य भी छोड दे और सयम का रूख अख्तियार कर ले तो वह नियम भग करने वाले के दिल को भी पलट सकता है। त्याग और सयम मे ऐसी ही दिव्य शक्ति होती है जो मनुष्य को उसके मनुष्यत्व से भी ऊपर उठाकर देवत्व के समीप ले जाती है।

मर्यादा, नियम एव सयम के अनुपालन मे निष्कपट भाव पहले जरूरी हैं। ऐसी अवस्था मे दो स्थितियाँ स्वत ही टल जायगी, जो है—विश्वासघात एव आत्मघात की स्थितियाँ। कपट नही छुटता तब तक मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिये हर किसी के साथ विश्वासघात का व्यवहार करता है। उसके मन, वचन और कर्म गाडी के पहिये की तरह घूम जाते हैं। ऐसा ही व्यक्ति आत्मघात के स्तर पर भी पहुँच जाता है। कपट, माया, दभ और पाखड की वृत्ति से अपनी आत्मा की श्रेष्ठता की घात तो वह करता ही है किन्तु प्रतिशोध या आत्मग्लानि के भँवर मे पडकर वह कभी आत्महत्या करने के लिये भी तैयार हो जाता है। इस दृष्टि से समता साधना के लिये निष्कपट भाव का होना अति आवश्यक माना गया है।

५

सर्वांगीण दायित्वो पर ईमानदारी से विचार एव यथा' के साथ निर्वहन—

समाज मे रहते हुए व्यक्ति के कई पक्ष होते हैं और इसलिये उसके दायित्व भी बहुमुखी हो जाते हैं। अत यथास्थान, यथावसर, यथाशक्ति

यथायोग्य रीति से ऐसे सर्वांगीण दायित्वो पर ईमानदारी से विचार किया जाय एव इन्ही सब 'यथा' के साथ उनका निर्वहन किया जाय, तव व्यक्ति अपने स्वय के प्रति एव परिवार से लेकर समूचे प्राणी समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यो का समुचित रीति से पालन कर सकेगा एव सर्वत्र समता के स्थायी भाव को फैला सकेगा ।

किसी भी कर्त्तव्य मे कही भी च्युत होने का अर्थ ही यह होता है कि वहाँ आपने विषमता का पौधा रोप दिया । बुराई जल्दी जड पकडती है और फैलती है, उसी तरह विषमता भी एक वार पनप कर वहुत जल्दी पसर जाती है । अत समता की महायात्रा मे कही भी कर्त्तव्यहीनता की स्थिति नही आवे—इसकी सतर्कता सदैव वनी रहनी चाहिये ।

जव परिग्रह की मूर्छा नहीं रहेगी और माया की छलना भी मिट जायगी, तव हृदय-पटल त्याग एव वलिदान (आत्म समर्पण) की भावना से अभिभूत हो जायगा और वह स्वत्व को विसर्जित कर विराट् रूप धारण कर लेगा, याने कि उस उन्नत श्रेणी मे पहुँच कर मनुष्य समूचे विश्व को आत्मसात् कर लेगा । उसका अपने पराये का भेद पूरे तौर पर समाप्त हो जायगा । वैसी मनो-दशा मे दायित्वो का ईमानदारी से निर्वाह एक निष्ठापूर्ण कार्य वन जायगा और समाज शालीनता के ऐसे स्तर पर पहुँच जायगा, जहाँ से समतामय व्यवहार की समरस धारा के सिवाय दूसरा कोई प्रवाह ही नही चलेगा ।

६

सवके लिये एक और एक के लिये सब

व्यक्ति और समाज के जीवन मे तव समता के जीवन-दर्शन का ऐसा विकास परिलक्षित होगा कि 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त से भी आगे समता के सशक्त सहयोग की सवल पृष्ठभूमि वन जायगी और वह होगी—सवके लिये एक और एक के लिये सव । इसका अर्थ है विषमता के विष की आखिरी वूँदें भी सूख जायगी और सारा समाज वैयक्तिक एव नैतिक उत्थान के हित सहयोग एव एकता के सूत्र मे आवद्ध हो जायगा ।

सबके लिये एक और एक के लिये सब —यह समष्टिगत-भावना का रूप है। व्यक्ति-व्यक्ति जब अपने मे भेद महसूस करते हो तो वे अपने से अन्य का सम्बल नही बन सकते है। अपने व्यक्तित्व को जब समूह या समाज मे समाहित किया जाता है तभी दूसरो के लिये अपनी ओर से कुछ करने की भावना जन्म लेती है। इसी भावना से उपजते हैं सहयोग, सहकार और सगठन। ये सब सामाजिकता के प्रतीक कहलाते हैं। सामाजिकता जितनी गहरी बनती जायेगी व्यक्ति की उसके प्रति निष्ठा भी सुदृढ बनेगी। सुदृढ-निष्ठा के बाद ही सबके लिये एक और एक के लिये सब की भावना सबको सम्बल देती हुई सबके समान विकास की प्रेरणा देगी। समाज के समतामय निर्माण का यही राजमार्ग है।

जब से व्यक्ति ने एकाकीपन छोड कर अन्य साथियो के ससर्ग मे रहना स्वीकार किया एव सामाजिक सगठन का विकास किया तब से सहकार सारे व्यवहार का केन्द्र बिन्दु बन गया है। जीवन सचालन का मूलाधार ही सहकार बन गया है। एक ही व्यक्ति खाने-पीने और पहनने के सभी साधन अपने लिये स्वय ही पैदा नही कर सकता है। कोई खेती करता है। कोई उत्पादन तो कोई व्यवसाय। इसलिये अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये सभी को परस्पर आधारित रहना पडता है। यही सहकार का मूल है किन्तु यदि इसी सहकार को विवशता से भी आगे स्वेच्छा पूर्वक अभिवृद्ध किया जाय तो समाज मे समता का उच्चादर्श प्रस्तुत किया जा सकता है।

जब सहयोग एव सहानुभूति का वातावरण होता है तब समता के विकास का रूप एक और एक मिलकर दो की सख्या मे नही बल्कि एक और एक मिलकर ग्यारह की सख्या मे ढलता है। तब सामाजिक शक्ति से आश्वस्त होकर सभी के चरण समता प्राप्ति की दिशा मे तेजी से आगे बढने लगते हैं।

७

सम्पूर्ण विश्व के साथ कुटुम्बवत् आत्मीय निष्ठा

समता के दर्शन एव व्यवहार का इसे चरम विकास मानना होगा कि व्यक्ति का व्यक्तित्व समूचे विश्व की परिधि तक प्रस्तारित हो जाय। जैसे

अपने कुटुम्ब मे आप साधारणतया भेद-भाव भूल जाते हैं, कर्त्तव्यो का भी ध्यान रखते हैं एवं सबकी यथायोग्य सेवा भी करना चाहते हैं। उसका कारण यही होता है कि उस घटक मे आप अपनी आत्मीयता प्रस्थापित करते हैं। यह आत्मीयता रक्त से सम्बन्ध रखती है, किन्तु यदि इसी आत्मीयता का सम्बन्ध समता-दर्शन से जोड दिया जाय तो उसका विस्तार समूचे विश्व एव प्राणी-समाज तक भी फैलाया जा सकता है। रक्त के सम्बन्ध से भी भावना की शक्ति बडी होती है।

भारतीय सस्कृति मे "वसुधैव कुटुम्बकम्" की जो कल्पना की गई है, उसे समता-पथ पर चल कर ही साकार बनाई जा सकती है। सारे विश्व को बडा कुटुम्ब मान लें, उसे अपनी स्नेहपूर्ण आत्मीयता से रग दें तो भला क्यो नही ऐसी श्रेष्ठ कल्पना साकार हो सकेगी ? मानव-जीवन के लिये विकास की कोई भी ऊँचाई कभी भी असाध्य मत मानिये। वह ऊँचाई नही मिलती—यह जीवन की कमजोरी हो सकती है, किन्तु जब भी जीवन-दर्शन की क्रियाशील प्रेरणा से आप्लावित होकर समता मार्ग पर गति की जायगी, वह ऊँचाई मिल कर रहेगी।

सर्वाङ्गीण समता प्राप्ति के लक्ष्य के साथ भी यही तथ्य जुडा हुआ है। आवश्यकता है कि लक्ष्य के अनुसार सही दिशा मे जीवन को मोडा जाय तथा ज्ञान व आस्थापूर्ण आचरण से आगे बढा जाय।

: ७ :

आत्म-दर्शन के आनन्द पथ पर

समता का तीसरा सोपान—आत्म-दर्शन—मनुष्य को ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य की त्रिधारा मे अवगाहन कराते हुए आनन्द पथ पर अग्रसर बनाएगा। आनन्द की आकाक्षा ससार मे प्रत्येक प्राणी को लगी हुई है। हर कोई हर समय सुखी रहना चाहता है और यह भी चाहता है कि उसे कभी दु ख न देखना पडे। आनन्द की आकाक्षा से ही जब मनुष्य के मन में उल्लास छा जाता है तो कल्पना करें कि आनन्द का अनुभव कितना उल्लासकारी बनकर उसे आत्मविभोर बना देगा ?

किन्तु खेदजनक अवस्था यह है कि आनन्द की वास्तविकता को जाचने-परखने और सच्चे आनन्द का रहस्य जानने की मनोवृत्ति बहुत कम लोगो मे पाई जाती है। इसी कारण शाश्वत आनन्द की इच्छा रखते हुए भी अधिकतर लोग क्षणिक आनन्द के प्रलोभन मे पड कर दु,ख की गलियो मे भटक जाते हैं। इनमे अज्ञानी लोग ही भटकते हो—वैसी ही बात नही है। वे अच्छे-अच्छे ज्ञानी और कर्मठ लोग भी भटक जाते हैं जो आत्म-दर्शन की अवहेलना करते हैं और जिन्हे सब कुछ करने के बावजूद भी अपने ही 'मैं' की अनुभूति नही होती।

यह 'मैं' की अनुभूति क्या है ?

अध्यात्म की पराकाष्ठा पर पहुचने पर जिसने भी यह स्वर उठाया कि मै ही प्रभु हूँ—मैं ही ईश्वर हू और मैं ही सब-कुछ हू, वह स्वर अभिमान का स्वर नही, अनुभूति का स्वर था। जीवन मे जब मूर्छा, अज्ञान और पतन समाया रहता है तब उसका 'मैं' इतना क्षुद्र बन जाता है कि न तो खुद ही जागता है और न जागने का काम भी कर सकता है। इनके विपरीत जब 'मैं' जागता है तो वह इतना विराट बन जाता है कि सारा ब्रह्म- सारा जगत् उसमे समा जाता है अर्थात् यह 'मैं' अपने को विगलित कर सब-सबमे रल-मिल जाता है—सबको अपना लेता है और यही 'मैं' की उच्चस्थ अवस्था होती है तो यही समतामय जीवन का चरम का विकास भी होता है।

ससारी आत्माओ का 'मैं' इतना सोया हुआ रहता है कि उसे खोजना, जगाना और कर्मनिष्ठ बनाना एक भगीरथ प्रयत्न से कम नही। इस मैं' का साक्षात्कार ही सत्य का साक्षात्कार है—ईश्वर का साक्षात्कार है। प्रत्येक मानव अपने आपको 'मैं' ही तो कहता है किन्तु वह अपने इस 'मैं' को गलत-गलत जगहो पर आरोपित करता हुआ उसकी वास्तविकता से विस्मृत बना रहता है, इसी कारण वह अपने असली 'मैं' को आसानी से खोज नही पाता। विषमताजन्य परिस्थितियो मे डोलायमान रहते हुए वह बाह्य वातावरण से इतना प्रभावित रहता है कि अन्तर मे झाकने की उसे सज्ञा नही होती और अन्तर मे नही झाके तो इस 'मैं' को कैसे देखे या कि उसकी अनुभूति कैसे ले ?

पहले आत्मा को जान लें !

"मैं" की अनुभूति की दिशा मे आगे बढने के लिये पहले आत्म-तत्व को जानना अनिवार्य है। एक मानव शरीर जिसे हम जीवित कहते है और दूसरे सद्य मृत मानव शरीर मे क्या अन्तर हे ? एक क्षण पूर्व जो शरीर सचेतन था, जिसकी सारी इन्द्रिया और सारे अवयव काम कर रहे थे और जिसमे भावनाओ का प्रवाह उमड रहा था, वह हृद्‌गति रुकी या और कुछ हुआ कि एक ही क्षण बाद मृत हो गया—चेतना, सज्ञा, क्रिया - सब समाप्त, यह क्या हैं ? यह मृत्यु क्या है और इसीके आधार पर सोचें कि यह जीवन क्या हैं ?

मानव शरीर अथवा अन्य शरीरो के सचालन की जो यह चेतना है—उसे ही तो आत्मा कहा गया है यह चेतना जब तक है, शरीर को जीवित कहा जाता है और जब तक वह जीवित है तब तक जीवन हैं तथा जीवन की समाप्ति का नाम ही मृत्यु है। तो क्या जीवन के बाद मृत्यु के रूप मे शरीर ही नष्ट होता है अथवा उसकी चेतना भी नष्ट हो जाती है ? यदि शरीर के साथ आत्मा का भी नष्ट होना मान लिया जाय तो फिर नये नये शरीरो मे आत्माए कहा से आयेंगी ?

आत्मा अमर तत्त्व है।

अत आत्मा अमर तत्व है। मृत्यु के रूप मे केवल शरीर नष्ट होता है। आत्मा अपने कर्म के अनुसार पुन नया शरीर धारण करती है अथवा कर्म-विमुक्त हो जाने पर मोक्षगामी बनती है। आत्मा के लिये शरीर धारण वस्त्र-परिवर्तन के समान माना गया है तो प्रश्न उठता है कि यह शरीर क्या है और आत्मा शरीर मे आबद्ध क्यो होती हैं ?

यह दृश्यमान जगत् दो तत्वो के मेल पर टिका हुआ है। एक तत्व है जीव और दूसरा है अजीव। जीव के ही पर्यायवाची शब्द हैं चैतन्य, आत्मा आदि। यह जीव ससार मे इसलिये है कि अजीव के साथ बन्ध कर जिस प्रकार के कर्म यह करता है उसके फल का भुगतान भी इसको लेना पडता है और विभिन्न शरीरो का धारण वही फल है। आत्मा जीव है—चैतन्य है और शरीर अजीव है—जड है। जड निष्क्रिय होता है किन्तु चैतन्य जब उसमे मिल जाता है तो वह क्रियाशील हो जाता है। जीव और मृत्यु का यही रहस्य है। यह अमर तत्व शरीर के रूप मे बार-बार मरता है और बार-बार जन्म लेता है। ससार के सारे क्रिया-कलाप एव ससार का क्रम इसी जन्म-मरण के चक्र पर चलता है।

आत्मा की कर्म सलग्नता

जब आत्मा मानव शरीर अथवा अन्य शरीर को धारण करती है तो वह एक नये जीवन के रूप मे ससार के रगमच पर आती है। तब उस जीवन मे जिस प्रकार के क्रिया-कलाप होते हैं, वैसे-वैसे कर्म उसके साथ सलग्न होते

हैं। इन कर्मो को पुद्गल रूप ही माना गया है। कर्म जड होते हुए भी सलग्न होने मे उसी प्रकार सक्रिय बनते हैं जिस प्रकार तेल मर्दन कर लेने पर वालू रेत पर सो जाने से रेत के कण उस शरीर के साथ स्वयं चिपक जाने मे सक्रिय होते हैं। जीवन मे शुभ विचार आया तो शुभ कर्म-पुद्गल सलग्न होंगे और अशुभ विचार या कार्य के परिणाम रूप अशुभ कर्म सलग्न होंगे। यह कर्मो का आत्मा के लिये एक वन्धन हो जाता है जो शरीर के छूट जाने पर भी आत्मा से नही छूटता।

शुभ या अशुभ जिस प्रकार के कर्म होते हैं, उनका इस या आगामी जीवनो मे आत्मा को फल भुगतना होता है। शुभ कर्मो के फलस्वरूप अच्छा जीवन और उसमे अच्छे सयोग मिलते हैं तो अशुभ कर्मो का फल अशुभ परिस्थितियो के रूप मे मिलता है। कर्मवाद का यही आधार है जिससे यह प्रेरणा मिलती है कि जीवन मे अच्छे कार्य किये जायें, श्रेष्ठ विचार एव वृत्तिया अपनाई जायें तथा इस "मैं" को पहिचान कर इसे कर्मों के वन्धन से मुक्त किया जाय।

आत्मानुभूति की जागरणा

जड और चेतन तत्वो के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह 'मैं' शरीर मे वैठा है, फिर भी शरीर से अलग है और शरीर से ऊपर है, क्योकि यह "मैं" नही तो शरीर सक्रिय नही। अत जिसके आश्रय से यही शरीर है, वह यह 'मैं' आत्मा है। इस दृष्टि से आत्मा इस शरीर रूपी एंजिन का ड्राइवर है।

आत्मानुभूति की जागरणा का रहस्य इस वस्तुस्थिति को समझने मे रहा हुआ कि एंजिन ड्राइवर को चलावे या कि ड्राइवर एंजिक को चलावे। शरीर पर आत्मा का अनुशासन हो या वह शरीर के अनुशासन मे दवी रहे। अनुशासन का झगडा इसलिये है कि जड और चेतन दोनो मिलकर भी सही दशा मे अपना-अपना स्वभाव नही छोडते हैं। चैतन्य का स्वभाव ज्ञान एवं शक्ति रूप है एव उसका अस्तित्व अजरामर है, तो जड़ ज्ञान शून्य एव निर्जीव होता है और नश्वर भी होता है। एक तरह से दोनो के स्वभाव विपरीत हैं

जो एक दूसरे को एक दूसरे की दिशा मे खीचते है। इसमे भी अनुशासन का झगडा स्वय आत्मा के साथ है। जब आत्मा की ज्ञान दशा सुषुप्त होती है—कर्मठता जागती नही है तो उसकी अपनी असली अनुभूति भी शिथिल बनी रहती है। वैसी अवस्था मे एजिन का स्टीयरिंग उसके हाथ से छूट जाता है—उस अवस्था को ही यह कह दें कि चैतन्य जड के अनुशासन मे हो गया है। आत्मा का अनुशासन तब माना जाय जब स्टीयरिंग ड्राइवर के हाथ मे हो।

आत्मानुभूति की जागरणा की स्थिति यही है कि एजिन का स्टीयरिंग ड्राइवर के हाथ मे बना रहे।

आत्मा की आवाज सुनें

किसी भी जीवधारी की आत्मा कभी भी जागृति या सज्ञा से सर्वथा हीन नही होती। सज्ञा के दब जाने की दशाओ मे अन्तर हो सकता है, किन्तु वह सर्वथा नष्ट नही होती, क्योकि आत्मा का मूल स्वभाव ज्ञानमय है—चेतनामय है। एक दर्पण पर अधिक से अधिक मैला चढ जाय, उसमे प्रतिबिम्ब दीखना बन्द हो जाय, फिर भी उसकी प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की क्षमता सम्पूर्णत नष्ट नही होती। मैल जितना और जिस कदर साफ किया जायगा तो प्रतिबिम्ब होने की उसकी उतनी ही क्षमता भी निखरती जायगी और पूरी सफाई हो जाय तो एकदम स्वच्छ प्रतिबिम्ब भी उसमे नजर आ सकता है।

आत्मा के साथ भी कर्मों का जो मैल लगा रहता है, वही इसकी ज्ञान एक चेतना शक्ति को दबाता रहता है एव इसे अपने "मै" से भी विस्मृत बनाये रखता है। जितने सुविचार एव सदाचरण से इस मैल का धोने की कोशिश की जाती है आत्मा का मूल स्वरूप भी निखरता जाता है। इसमे जितनी ज्यादा सफाई आती है, चेतना जागृत होती है—सगठित बनती है। जब ड्राइवर होशियार होता है तो स्टीयरिंग मजबूती से उसके हाथो मे बना रहता है और गाडी उसी दिशा मे चलती है, जिस दिशा मे वह उसे चलाना चाहता है।

यह स्तर आत्मा की आवाज को सुनने से बनता है। आत्मा की आवाज कैसे उठती है ? दबी से दबी आत्मा भी बोलती है—यह एक तथ्य है और ज्योंही उस बोलने को सुना जाय एवं उसके अनुसार आचरण किया जाय तो वह आत्मा विकास का नया करवट भी बदलती है। अपने अनुभव का ही एक दृष्टान्त लें। आप एक व्यक्ति से मिलने गये, वह उस समय रुपये गिन रहा था—गिड्डियां खुली हुई पड़ी थी। आपका स्वागत करने वह उसी हालत में उठकर जलपान की सामग्री लेने अन्दर चला गया। अब आपके भीतर जड़-चेतन का युद्ध क्या होगा ? जड कहता है—न पता चले उतने नोट चुपके से लेकर जेब में रख दो। तभी आत्मा की आवाज उठती है—नहीं, ऐसा न करो यह अनर्थ है। जिनके जीवन मे भाव नीद गहरी होती है, वे आत्मा की आवाज को दबा देते हैं और नोट जेब मे रख लेते है। जिनकी कुछ जागृति होती है, उनके भीतर यह द्वन्द्व जरा तेजी से चलता है और शायद बाद में वे हथियार डाल देते हैं, किन्तु जिनकी जागृति पुष्ट होती है, वे इस द्वन्द्व मे जड को परास्त कर देते है।

आत्मा की आवाज सभी जीवनधारियों मे उठती है, किन्तु उसका अनुशीलन एव उसका विकास उसे सुनने एव उसके अनुसार करने पर आधारित रहता है।

आत्म विकास का सही अर्थ

जब तक ड्राइवर नशे में पडा रहेगा और गाडी अपने ढग से चलती रहेगी तो वह गलत और हानिकारक परिणाम पैदा करेगी ही तथा इन परिणामों का भुगतान गाड़ी को नही, ड्राइवर को करना पडेगा। इसी प्रकार आत्मा जब तक मूर्छाग्रस्त रहती है, वह शारीरिक एव पौद्गलिक सुखो की वितृष्णा मे अपने स्वरूप को क्षतिग्रस्त बनाती रहती है एव सच्चे विकास से दूर हटती रहती है। आत्म-विकास का सही अर्थ यह होगा कि आत्मा अपनी आवाज को शरीर से मनवावे और शरीर वही कर सके जिसकी आज्ञा आत्मा दे।

यह कब होगा ? जब आत्मा अपने मूलस्वरूप को प्राप्त करने की दिशा मे उन्मुख बनेगी। कर्म बन्धन से ज्यो-ज्यो वह मुक्त होती जायगी, वह

ऊर्ध्वगामी बनेगी, क्योंकि वह हल्की होती जायगी। विकास का तात्पर्य है ऊपर उठना और जब आत्मा हल्की बनती हुई ऊपर और ऊपर उठती जायगी तो विकास के चरम बिन्दु तक भी पहुच सकेगी। सिद्धान्त-दर्शन के बाद तीसरे सोपान पर आत्म-दर्शन का क्रम रखने का यही अभिप्राय है कि जीवन मे जब ज्ञानार्जन करके आचरण को पुष्ट बना लिया जाता है तब अन्तरानुभूति सशक्त बनती है और आत्मानुशासन प्रबल होता है।

चैतन्य का अनुशासन प्रबल हो तो निश्चित रूप से प्रकाश की ओर ही गति होगी—जडत्व का अन्धकार उसे घेर नही सकेगा। ससार मे रहते हुए तथा शरीर-धर्म निबाहते हुए जड का जो आश्रय चाहिये, वह उसे प्राप्त करेगा किन्तु उसकी जड से कोई स्थायी अपेक्षा नही रहेगी। लक्ष्य चैतन्य-विकास एव समता प्राप्ति का ही रहेगा।

चिन्तन, मनन एव स्वानुभूति

आत्मानुभूति के सजग एव स्पष्ट होने के बाद चिन्तन एव मनन की मनोवृत्ति और अधिक गम्भीर एव अन्तर्मुखी बनती जायगी। जितनी अधिक गम्भीरता बढेगी, उतनी ही उपलब्धि भी महत्वपूर्ण होती जायगी। चिन्तन और मनन की शिला पर घिसती हुई स्वानुभूति तीक्ष्णतर बनती हुई अधिक समतामयी बनती जायगी। स्पष्ट स्वानुभूति की दशा मे पतन की आशका एकदम घट जाती है। प्रत्येक विचार एव प्रत्येक कसौटी कार्य की जब स्वय की ही अन्तर्चेतना बन जाय तब खरेपन की जाच हर समय होती रहती है और ऐसे जागरण की अवस्था मे भला पतन का खतरा खडा रह ही कैसे सकता है?

चिन्तन एव मनन की मनोवृत्ति पर अधिक बल देने का यही कारण है कि मनुष्य जीवन इस समता के मार्ग पर स्वावलम्बी बन जाय। उसकी स्वानुभूति मार्ग के भटकाव का तुरन्त सकेत दे देगी तो चिन्तन एव मनन की मनोवृत्तिया पुन सही रास्ते को खोज निकालेंगी।

एक चिन्तक स्वय के जीवन को तो समुन्नत बना ही लेता है किन्तु सारे विश्व के लिये ऐसा आलोक भी उत्पन्न करता है, जिसके प्रकाश मे वह

पीढ़ी ही नहीं, आनेवाली कई पीढ़ियां भी विकास का सन्देश आदर्श रूप में ग्रहण करती रहती हैं। चिन्तन तथा मनन की जीवन्त प्रणाली सम जीवन की दृष्टि से पुन. सबल बननी चाहिये।

सत्साधना की त्रिधारा का प्रवाह

"जिन खोजा, तिन पाइयां"—किन्तु यह प्राप्ति तब होती है जब गहरे पानी पैठ होती है। समुद्र में जो जितना गहरा गोता लगाता है, उतने ही मूल्यवान मोतियों की उपलब्धि कर सकता है। उसी प्रकार चिन्तन, मनन एवं स्वानुभूति की गहराई में जो जितनी पैठ करता है, उतने ही सत्साधना के मुक्ताकण उसे प्राप्त हो सकते हैं। तब एक तरह से जीवन के रेगिस्तान में सत्साधना की एक नहीं, त्रिधारा का प्रवाह इस गति से प्रवाहित होता है कि जीवन की खेती लहलहा उठती है।

सत्साधना की यह त्रिधारा है – ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की त्रिधारा, जो सम्यक्त्व की निर्मलता में बहती हुई आत्म-स्वरूप को भी निर्मलता की ओर ले जाती है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की त्रिधारा बह जाने के बाद आत्म-दर्शन स्पष्टतर बनता जाता है। तब बाहर से अन्तराभिमुखी वृत्ति ढलती है और वह अन्तर की समस्त तरलता को बाहर उडेल देने के लिये आतुर बन जाती है। वहां जगत् की सेवा में जीवन-समर्पण की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

आत्मवत् सर्व भूतेष

आन्तरिकता की इस अभ्युत्थानी अवस्था में संसार के समस्त जीवन-धारी अपनी ही आत्मा के तुल्य प्रतीत होने लगते हैं। उसकी आत्मीयता समूचे विश्व को बांध लेती है—वह इस दृष्टि से कि सहानुभूति एवं सहयोग का स्नेह उसके अन्तर से उद्भूत होकर सब ओर-सब पर फैल जाता है। तब समस्त प्राणियों के साथ जिस आत्मीय समता की स्थापना होती है, वह अपने सुख-दुःख को तो भुला देती है परन्तु दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख बना देती है—आत्मवत् का यही अन्तर्भाव होता है। अपनी आत्मा वैसी

सबकी आत्मा—इस समता दृष्टि से भी आगे ऐसे आत्म-दर्शी की यह भावना सजग हो जाती है कि वह अपनी आत्मा को भी एक प्रकार से सबकी आत्मा मे निमज्जित कर देता है याने कि उसका जीवन पूरे तौर पर लोकोप-कारी बन जाता है।

आत्म-दर्शन की मूलगत भावना ही यह होनी चाहिये कि वह अपने निजी स्वार्थों के सकुचित घेरो को तोडता चला जाय। जितना अपने ही स्वार्थों का खयाल है, उतना ही विषमता को गले लगाना है। लोकोपकारी वही बन सकता है जो अपते स्वार्थों को तिलाजलि दे देता है। उसके लिये प्राथमिक एव प्रमुख लोकहित हो जाता है। लोकहित की सतत चेष्टा नही हो तो 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' का अनुभाव भी कार्य रूप नही ले सकेगा।

आत्म-दर्शन की दिशा मे

समता व्यक्ति के जीवन मे आवे तो समता समाज के जीवन मे जागे—इस उद्देश्य की श्रेष्ठ पूर्ति आत्म-दर्शन की दिशा मे निरन्तर आगे बढते रहने से ही सभव बन सकेगी। आत्मानुभूति एव अन्तर्चेतना की जागृत दशा मे जो प्रगति की जायगी, वह व्यक्ति एव समाज दोनो के जीवन को प्रभावित करेगी। आत्म-दर्शी व्यक्ति एक प्रकार से परिवर्तनशील समाज के नेता होंगे—सामान्य जन जिनका विश्वासपूर्वक अनुसरण कर सकेंगे।

आत्म-दर्शन की दिशा मे पूर्णत प्राप्त करने की दृष्टि से समता-साधक को नियमित रूप से कुछ भावात्मक अभ्यास करने होगे जो इस प्रकार हो सकते हैं —

: १ :

प्रात सूर्योदय से पूर्व एक घडी आत्म-चिन्तन एव साय आत्मालोचना

महावीर ने यह अमर वाक्य उच्चरित किया था कि—"समय, गोयम मा पमायए" अर्थात् हे गौतम, समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत करो। समय

को मिनिट व सैकड से भी छोटा घटक माना गया है। समय का कोई मूल्य नही और बीता हुआ समय कभी वापस लौटकर आता नहीं, अत आत्मदर्शी के लिये समय का आत्मोपकारपूर्वक लोकोपकार मे सदुपयोग एक आवश्यक कर्त्तव्य माना जाना चाहिये।

इस हेतु अभ्यास रूप पहले वह प्रात. सूर्योदय से पूर्व कम से कम एक घडी यह आत्म-चिन्तन करे कि उस दिन उसे अपनी चर्या क्या रखनी है जो उसके समता-लक्ष्य के अनुकूल हो। यही समय गहन विषयों पर चिन्तन एव मनन का भी होना चाहिये। यह आत्म-चिन्तन उनकी स्वानुभूति को तीव्रतर बनाता रहेगा।

इसी प्रकार साय आत्मालोचना का समय निकालना भी इस कारण आवश्यक है कि दिन भर मे उसने क्या अकरणीय किया और क्या करणीय नही किया—इनका लेखा-जोखा भावी सावधानी की दृष्टि से जरूर लगाया जाय। यह नित्य का क्रम आत्मदर्शी की विकास गति मे शिथिलता कभी भी नही आने देगा। अभ्यास नियमित नहीं रहे तो सभव है प्रमादवश शैथिल्य आ जाय, क्योंकि शरीर मे रहा हुआ बडा शत्रु प्रमाद ही होता है।

प्रमाद को आत्म-साधना का सबसे बडा शत्रु माना गया है। जहाँ प्रमाद है, वहाँ सभी प्रकार के विकारो के प्रवेश करने का रास्ता खुला हुआ है। इसलिये भगवान महावीर ने अपने पट्ट शिष्य गौतम गणधर को उपदेश दिया। समय गोयम मा पमायए अर्थात् हे गौतम, तुम समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत करो। नीति-शास्त्र मे भी कहा गया है कि आलस्य शरीर के भीतर रहा हुआ शरीर का ही महान शत्रु है। जब साधक प्रमाद को घटाने और छोडने का सकल्प लेता है तो उसकी आन्तरिक ऊर्जा अधिक सक्रिय हो जाती है। वह अपनी वृत्तियो एव प्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे अधिक विवेकशील भी हो जाता है। उसकी ऐसी विवेकपूर्ण सक्रियता समतामय जीवन के पवित्र क्षेत्र मे प्रवेश कराती है।

समता की साधना का पहला चरण सामायिक से शुरू होता है। एक मुहूर्त तक विषय कषाय के विचारो से दूर होकर जब वह समभाव मे लीन

होता है तो उसकी हार्दिकता समस्त मानव-जाति तक ही नही सम्पूर्ण प्राणी-जगत तक विस्तृत वन जाती है। इसके साथ प्रतिक्रमण की भी जब आराधना की जाती है तो समतावत् साधक अपने किये हुए कार्यों की स्वय ही आलोचना करता है और भविष्य मे जिन्हे वह दुष्कर्म मानता है उन्हे पुन न करने का सकल्प भी लेता है। सामायिक एव प्रतिक्रमण के माध्यम से रोज का मैल रोज धोया जाता रहे तो आत्म-स्वरूप की उज्ज्वलता निखारने का मार्ग निष्कटक वन जाता है।

प्रात और साय के इस कार्यक्रम को आत्मदर्शी के लिये अनिवार्य माना जाना चाहिये।

२ '

सत्साधना का नियमित समय निर्धारण एव उस समय के कर्त्तव्य

समता-साधना की अन्तरग धारा तो हर समय प्रवाहित होती रहेगी, किन्तु इसके प्रवाह को पुष्ट करते रहने की दृष्टि से सत्साधना के लिये नियमित समय का निर्धारण भी आवश्यक है, ताकि समता-साधक का वाह्य जीवन भी समता-प्रसार मे नियोजित हो तथा उसके प्रभाव से सभी क्षेत्रो मे समता के लिये चाह गहरी वने।

सत्साधना के क्षेत्र मे किन्ही विशिष्ट प्रवृत्तियो को हाथ मे लिया जा सकता है जो यथाशक्ति यथाविकास पूरी की जा सकती हो। ऐसी प्रवृत्तियो के लिये पूरा या अधिक समय दिया जा सके—यह तो श्रेष्ठ है ही, किन्तु पहले अभ्यास की दृष्टि से नियमित समय निकाला जाय तो उसमे सेवा-समर्पण का क्षेत्र वढता रहेगा।

सत्साधना के ऐसे वाह्य क्रिया कलापो मे इस वात का ध्यान रखा जाना चाहिये कि उस समय यथाशक्य अधिक से अधिक पाप प्रवृत्तियो का निरोध किया जाय तथा समतामय प्रवृत्तियो का आचरण किया जाय। आत्म-चिन्तन के आधार पर समाज मे राजनैतिक, आर्थिक आदि विभिन्न प्रकार की समता-

स्थापना हेतु नये शान्तिपूर्ण मार्ग खोजे जायें और ऐसी पद्धतियो का विकास किया जाय जो समाज के विस्तृत क्षेत्र मे भावात्मक तथा कार्यात्मक एकरूपता पैदा कर सकें, क्योकि स्वतत्र चिन्तन पर आधारित ऐसी एकरूपता ही समता के वातावरण को स्थायी एव सुदृढ वना सकेगी।

, ३

सत्साहित्य का निरन्तर स्वाध्याय एव मौलिकता की सृष्टि—

हमारा अपना चिन्तन तव तक पूर्ण नही वन सकेगा, जव तक हम दूसरे प्रवुद्धजन के अतीत के या वर्तमान के चिन्तन को समझ कर अपने स्वय के चिन्तन की कसौटी पर न कसें और उसकी उपयोगिता पर न सोचें। "वादे वादे जायते तत्त्ववोध"—यह सत्य उक्ति है। एक-एक व्यक्ति से नये-नये विचार उभरते हैं तथा उनसे नये-नये तत्त्वो का ज्ञान होता है। न जाने किस अज्ञात प्रतिभा के मस्तिष्क से युग-वोध के विचार प्रस्फुटित हो जाय? प्रत्येक आत्मा ज्ञानधारी होती है तब यह कौन कह सकता है कि चिन्तन की धारा मे कौनसी आत्मा कितनी गहरी उतर कर विचारो के नये-नये मोती ढू ढ लावे? इसके सिवाय अतीत के महापुरुषो द्वारा ढू ढे हुए विचार-मोती भी शास्त्रो या सूत्रो के रूप मे हमारे सामने विद्यमान हैं।

समता की साधना को पुष्ट वनाने के लिये स्वाध्याय का नियमित क्रम अत्यावश्यक माना गया है। स्वाध्याय का शाब्दिक अर्थ है—स्व का अध्याय अथवा स्व का अध्ययन। इस ससार मे मनुष्य जव तक अपने आत्म-स्वरूप को पहिचानने व परखने का उपक्रम आरम्भ नही करे तव तक न तो वह जड तत्वो के अभाव से मुक्त हो सकता है और न ही अपनी चैतन्य शक्ति को प्रखरता के साथ अपने जीवन की नियन्त्रक शक्ति वना सकता है। आत्म-स्वरूप को पहिचानने का दूसरा नाम ही स्वाध्याय है। स्थूल अर्थ मे श्रेष्ठ ग्रथो के अध्ययन, मनन एव चिन्तन को भी स्वाध्याय कहते हैं, किन्तु अपने सूक्ष्म अर्थ मे वह भी निजात्मा का ही अध्ययन होता है। जिन महापुरुषो ने स्व का सफल अध्ययन किया और अपने उन अनुभवो का उन श्रेष्ठ ग्रथो मे लिपिवद्ध

कर दिया, उन महापुरुषो का वह स्वाध्याय हमारे स्वाध्याय का प्रेरक वन सकता है।

स्वाध्याय के माध्यम से ही साधक अपने भीतर झाँकता है। अन्तर्मन के अवलोकन से वह अपने दोषो को पहिचान कर उन्हे दूर करने का पुरुषार्थ करता है तो उसके साथ ही सद्‌गुणो के उपार्जन की भी उसकी निष्ठा वलवती वनती है। स्वाध्याय का प्रतिदिन समय निर्धारित किया जाना चाहिये तथा नियमित रूप से स्वाध्याय का क्रम चलाया जाना चाहिये। समता की साधना मे स्वाध्याय के योगदान को एक साधक पूर्णतया हृदयगम करे।

अत एक आत्मदर्शी को निरन्तर स्वाध्याय की आदत वनानी चाहिये और वह स्वाध्याय इस सत् साहित्य का हो। स्वानुभूति की सजग दशा मे यह स्वाध्याय नये-नये चिन्तन व मनन तथा उसके फल-स्वरूप नई मौलिकता को जन्म देने वाला होगा। सव विचारो को जानकर जव उन्हे अपने भीतर पकाया और पचाया जाता है, तव उसके यथार्थ निष्कर्प रूप अपने ही मौलिक विचार पैदा होते हैं। स्वानुभूति एव स्वाध्याय के साथ चिन्तन-मनन की नियमित प्रवृत्ति मे मौलिकता की सृष्टि होती है, जिसकी सहायता से आत्मदर्शी सारे ससार को नया युगपरिवर्तनकारी विचार दे सकने का सामर्थ्य सचित कर सकता है।

४

"मैं किसी को दु ख न दूँ",

"मैं सबको सुख दूँ।"—

आत्म-दर्शन का सार व्यक्ति के मन मे इस रूप मे जागना चाहिये कि उसका यह मानस वन जाय—"मैं किसी को दु ख न दू —मैं सवको सुख दू।" उसका यही मानस जव आचरण मे उतरता जायगा तो अपने क्रिया-कलापो मे अहिंसा के दोनो पक्षो को सक्रिय वना लेगा। किसी को दु ख न देने मे वह अपने स्वार्थों को समेट लेगा और उन्हे किसी भी दशा मे उस दायरे से वाहर नही निकलने देगा, जहाँ पहुँच कर वे किसी भी अन्य जीवनधारी के प्राणो को किसी भी प्रकार से कष्टित वनावें।

सबको सुख देने की भावना इस दिशा की क्रियात्मक भावना होगी कि वह अपने लोकोपकार को विस्तृत बनावे—उसे समता का सुदृढ धरातल प्रदान करते हुए। इस वृत्ति में वह अपनी आत्मा को सेवा-शक्ति के अत्युच्च विकास के साथ सारे विश्व की परिधि तक फैला देगा। अत स्वार्थों को समेटो और आत्मीयता को फैलाओ—यह एक आत्मदर्शी का नारा ही नही, आचरण का सहारा होना चाहिये।

अहिंसा को सभी आश्रमो का हृदय तथा सभी शास्त्रो का उत्पत्तिस्थल बताया गया है। और धर्म भी अहिंसा के समान दूसरा नही है। किसी भी अन्य प्राणी की हत्या वस्तुत अपनी ही हत्या है और अन्य प्राणी की दया अपनी ही दया है। किन्तु ऐसी अनुभूति उन्ही क्षणो मे होती है जब यह विचारा जाता है कि जिस प्रकार मुझको दु ख प्रिय नही है, उसी प्रकार सभी जीवो को भी दु ख प्रिय नही हैं। तब ऐसा जानकर न स्वय हिंसा करता है, न किसी से हिंसा करवाता है तथा न ही हिंसा की अनुमोदना करता है। ऐसा साधक समत्वयोगी भी कहलाता है तो सच्चा श्रमण भी।

कहा गया है कि रक्त से सने वस्त्र को रक्त से ही धोने से शुद्ध व स्वच्छ नही बनाया जा सकता है। उसी प्रकार हिंसा से हिंसा मिटाई नही जा सकेगी। हिंसा को मिटाने के लिये प्रेम, करुणा और अहिंसा के प्रयोग की आवश्यकता होगी। दूसरो को सुख देने से स्वय को भी सुख मिलेगा जो आत्म भावो से पुष्पित, पलवित होने के कारण स्थायी सुख होगा। दु ख देने से दूसरा तो दु खी होगा या नही, किन्तु दु.ख देने वाला स्वय तो वैर भावो से सुलगता हुआ दु खी बनेगा ही। इसी कारण यह विचारधारा कि "मैं किसी को दु ख न दू" निषेध पक्ष से तथा "मै सबको सुख दू"—विधि पक्ष से अहिंसा की आराधक विचारधारा है और यही विचारधारा इस रूप मे साम्य योग की आधारशिला भी है।

साम्ययोगी का हृदय अतीव मृदुल बन जाता है। क्योकि वह परपीडा को देख नही पाता है। जो कठोर हृदय दूसरे की पीडा से प्रकपमान देखकर भी प्रकम्पित नही होता वह अनुकम्पा रहित कहलाता है, चू कि अनुकम्पा का अर्थ ही है—कापते हुए को देखकर कपित होना। दया और करुणा की मृदुता मे समता का साधक आत्म विसर्जन तक पहुँच जाता है।

५ :

आत्म-विसर्जन की अन्तिम-स्थिति तक—

आत्म-दर्शन की आखिरी मंजिल है आत्म-विसर्जन। त्याग, सेवा और समता-दृष्टि से वृहत्तर ममता—स्थिति के निर्माण हित अपने आपको भी भुला देना और लक्ष्य के लिये उसे विलीन कर देना सबसे बड़ी तपस्या है। इस कठोर तपस्या के माध्यम से आत्म-विकास की इस अन्तिम स्थिति तक पहुंच जाने के बाद तो फिर परमात्मा-दर्शन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

आत्मीय समानता का यह ऊँचा आदर्श है कि कोई भी आत्मा किसी दूसरे के किये से या बिना स्वयं के पराक्रम से विशिष्टता प्राप्त नहीं करती है। इसका अर्थ है कि आत्मा ही परमात्मा बनेगी और नर ही नारायण का पद ग्रहण करेगा। ऐसे किसी परमात्मा की कल्पना निरर्थक है जो सदा से परमात्मा ही हो अथवा संसार के क्रियाकलापों का संचालन करता हो। संसारी आत्मा ही जो चेतन व जड़ तत्त्वों के मिलन से संसार में भव भ्रमण करती है, अपनी कठोर साधना से सारे बन्धनों को तोड़कर तथा जड़ तत्त्व से सम्पूर्णतया विलग होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर सकती है। सिद्ध अवस्था की प्राप्ति के पश्चात् वह आत्मा ही परमात्मा या ईश्वर स्वरूप कहलाती है।

आत्मा संसारी हो या सिद्ध—अपने मूल स्वरूप के कारण समान मानी गई है। संसारी आत्मा के स्वरूप पर कर्मों की परतें चढ़ी रहती हैं जो उनके सिद्ध स्वरूप की बाधक होती है। ये परतें जब उतर जाय तो वही आत्मा सिद्ध बन जाती है। अतः ईश्वरत्व कोई अप्राप्य अवस्था नहीं है, वह तो समता साधना से प्राप्त किया जा सकता है। "सिद्धा जैसो जीव है, जीव सोई सिद्ध होय। कर्म मैल का अन्तरा बूझे बिरला कोय।"

समता का साधक जब अपने आत्म-स्वरूप को चीन्ह-पहिचान कर समता के व्यापक विस्तार में अपना आत्म विसर्जन कर लेता है, तभी उसकी आत्मा परमात्मा पद की दिशा में द्रुतगति से अग्रसर हो जाती है।

आत्म-दर्शन से परमात्म दर्शन तक की यात्रा की पूर्णाहुति चिन्तन एव कार्य शैली पर आधारित रहती है। आदर्श चिन्तन वर्षों और युगो के मार्ग को घडियो मे तय कर सकता है और उसके अनुसार जव चारित्र्य और आचरण का वल लगता है तो यह समूची यात्रा भी अल्प समय मे पूरी की जा सकती है। इसके विपरीत जागरण न होवे तो आत्म-दर्शन ही कठिन होता है तथा आत्म-दर्शन के वाद भी गति-गति का क्रम ढीला और धीमा हो तो परमात्म दर्शन की लक्ष्य प्राप्ति लम्बी या दुरूह भी वन सकती है। समता साधना की सफलता को साधक की शक्ति की अपेक्षा होती है—यह साधक पर निर्भर है कि दूरियो और समय की मात्रा पर वह कितनी कैंची चला सकता है ?

आनन्द पथ का पथिक

सच्चा आनन्द क्या है ? उसका स्थायित्व कितना होता है ? उसके घनत्व का उल्लास कैसा होता है और उसकी प्रतीति कितनी सुखद होती है ? इन सव प्रश्नो के सही उत्तर आत्म-दर्शन के आनन्द पथ का एक सफल पथिक ही दे सकता है।

आनन्द की दो धाराए दिखाई देती हैं। एक धारा तो वह जो ससारी जीवो की प्रत्यक्ष जानकारी मे आती हैं कि अच्छा खाने, अच्छा पीने या अच्छा रहने से शरीर को जितना ज्यादा सुख मिलता है उससे आनन्द होता है। किन्तु सचमुच मे यह आनन्द नही होता है। क्योकि यह क्षणिक होता है और इसका प्रतिफल दु ख रूप मे प्रकट होता है। इसे आनन्द का आभास मात्र कहा जा सकता है, जो कि झूठा होता है। अच्छा खाने मे सुख है—खाते जाइये, खाते ही जाइये—परिणाम सुख रूप होगा या दु ख रूप ? फिर अच्छा खाने से आनन्द होता है—यह कैसे कह सकेंगे ?

किन्तु आनन्द की दूसरी धारा है जो अन्दर से प्रकट होती है और जिसका सामान्य अनुभव सभी को होता है, किन्तु उस अनुभव को परिपुष्ट वनाते जाने का निश्चय आत्मदर्शी ही किया करते है। आपने किसी कराहते हुए असहाय रोगी को अस्पताल तक ही पहु चा दिया—कोई वडा काम नही किया

आपने, फिर भी उस काम से भी आपके भीतर एक आनन्द होता है। यह आनन्द ऐसा होता है कि जो विकृत नही होता, नष्ट नही होता तथा जितने अंशो मे ऐसे काम ज्यादा से ज्यादा किये जाते रहेंगे, इस आनन्द की मात्रा भी निरन्तर बढती ही जायगी। इसे भी आनन्द कह सकते हैं। लोकोपकारी आत्मदर्शी के लिये ऐसा आनन्द स्थायी अनुभव बन जाता है तो आत्मविसर्जन की अन्तिम स्थिति मे यह परमानन्द हो जाता है।

जो आत्मदर्शी होता है, वह समतादर्शी होता है तथा आनन्द का ऐसा पथ उस पथिक के लिये ही होता है, जिसके चरण अनवरत समता पथ पर ही गतिशील रहते हैं।

———

: ८ :

परमात्म दर्शन के समतापूर्ण लक्ष्य तक

"अप्पा सो परमप्पा"—आत्मा ही जव अपने पूर्ण समतामय लक्ष्य तक पहु च जाती है, तव वही परमात्म-स्वरूप धारण कर लेती है। नर से नारायण और आत्मा से परमात्मा का सिद्धान्त कर्मण्यता का अनुप्रेरक सिद्धात है। कोई भी विकास और विकास का चरम विन्दु तक इस आत्मा की पहु च से वाहर नही है। वास्तव मे असम्भव शव्द मानव जीवन के शव्दकोप मे कही भी नही है।

मानव जीवन मे इस कारण सत्साहस की प्रवृत्ति अपार महत्व रखती है। कायर के लिये सव कुछ असम्भव है, किन्तु साहसी के लिये कुछ भी असभव नही। आत्मा से परमात्मा तक का लक्ष्य इसी सत्साहस की समतापूर्ण उपलव्धि के रूप मे प्रकट होता है। मनुष्य जितना गिरावट के खड्डे मे गिरा रहता है, उतने ही उसके जीवन के सभी पहलू विषम वने रहते हैं। विषमता से अधिक से अधिक विकारो का प्रवेश होता रहता है और जितने अधिक विकार, उतनी अधिक दुर्वलता और जहा दुर्वलता है, वहा कायरता ही तो रहेगी—साहस का सद्भाव वहा कैसे हो सकता है?

यह कायरता कैसे मिटे ?

आपके वाहर के अनुभवो ने ही यह कहावत वना रखी है—चोर के पैर कच्चे होते है। चोर कौन ? जिसका जो प्राप्य नही है, उसे जव वह चुपके

ले लेना चाहता है तब उसे चोरी करना कहते हैं और चोरी करने वाला चोर होता है। इस वृत्ति को समझ कर अपने जीवन के हर काम पर एक निगाह डालिये कि आपका वह काम कही इस लाइन पर तो नही चल रहा है?

जहाँ चौर्य्य वृत्ति है, वहा अवश्य कायरता मिलेगी। विषमता बढती जाती है और कायरता बढती जाती है, कायरता बढने से किसी भी रूप मे पराक्रम का पैदा होना कठिन बन जाता है। साहस और पराक्रम का जोडा साथ ही हो तो चलता है—विचार मजबूत तो काम मजबूत। साहस और पराक्रम पैदा होगा विषमता काटने से, समता लाने से। बाहर और भीतर के जीवन मे जहा-जहा विषमता है, वहाँ-वहाँ उस पर प्रहार करते रहना होगा। ज्यो-ज्यो यह प्रहार किये जायेंगे, साहस और पराक्रम का बल भी बढता जायगा, क्योकि कायरता मिटती जायगी।

विषमता पर किये जाने वाले ये प्रहार सबसे पहले इसी चौर्य्य-वृत्ति पर आघात करेगे। अन्तर की आवाज तुरन्त बता देती है कि कहा और कितना उसका प्राप्य है और क्या उसका प्राप्य नही है? इस आवाज के निर्देशन मे चलते रहे तो कही भी भूल हो जाय—इसकी सम्भावना नही रहती है। जो आत्म-सुख की आवाज है, वह समता का पाथेय है और जितना शरीर सुख की लालसा मे दोडता है, वह विषमता के अधकार मे भटकना है। समता की ओर गति करने की लगन जब लग जायगी तो तबसे जीवन मे फैली हुई कायरता भी मिटने लगेगी।

पैर कहाँ-कहाँ कच्चे? और क्यो?

प्रत्येक विकासकामी मानव का पहला कर्त्तव्य यह होना चाहिये कि वह अपने प्रत्येक चरण पर सदसद् का एव उसके फलाफल का विवेक सतत रूप से जागृत रखे। वह जो सोचता, बोलता और करता है—उसका उसके स्वय के जीवन पर, उसके साथियो के जीवन पर एव समुच्चय रूप से समाज के जीवन पर क्या प्रभाव पडेगा—यह देखते एव महसूस करते रहने की सतर्कता होनी चाहिये।

वर्तमान जीवन क्रम को देखे कि पैर कहाँ-कहाँ कच्चे हैं और क्यो हैं ? इसके लिये पहले दो पक्ष ले—व्यक्ति का जीवन और समाज का जीवन। फिर इनके भी दो-दो पक्ष लें—वाह्य जीवन व आन्तरिक जीवन। ये चारो पक्ष अन्योन्याश्रित रहते हैं। व्यक्ति के आतरिक जीवन से व्यक्ति का वाह्य जीवन प्रभावित होता है। फिर जैसा समाज का वाह्य जीवन सामूहिक रूप से ढलता है, उसी के आधार पर समाज का आन्तरिक जीवन याने किसी भी समाज की सभ्यता एव सस्कृति का निर्माण होता है। यही सभ्यता एव सस्कृति फिर दीर्घकाल तक व्यक्ति के वाह्य एव अन्तर को प्रभावित करती रहती है। व्यक्ति समूह का अग होता है, तो समाज होता है व्यक्ति-व्यक्ति का समुच्चय रूप।

इसलिये जहाँ-जहाँ जिस-जिस पक्ष मे पैर कच्चे रहते हैं—उसका प्रभाव कम ज्यादा सभी पक्षो पर पडता है और यह काल-क्रम चलता रहता है। सामाजिक स्वेच्छिक नियन्त्रण प्रणालिया यदि सुदृढ नही होगी तो व्यक्ति की कामनाए साधारण रूप से उद्दाम वनेंगी और वह आत्म-विस्मृत वन कर पशुता की ओर मुडेगा। इसी के साथ यदि व्यक्ति अपने और अपने साथियो के हितो के साथ सामजस्य विठाकर चलने का अभ्यस्त नही हुआ तो उससे जिस सभ्यता एव सस्कृति की रचना होगी, वह न सर्वजन हितकारी होगी और न किसी भी दृष्टि से आदर्श। अत पग-पग पर आने वाली दुर्वलताओ के प्रति सतर्क रहने की दृष्टि से ही समूचा जीवन क्रम चलना चाहिये।

तीसरे के बाद यह चौथा सोपान

सिद्धान्त-दर्शन, जीवन-दर्शन एव आत्म-दर्शन के तीन सोपानो के वाद ज्ञान एव दर्शन के क्षेत्र मे यह जो चौथा सोपान परमात्म-दर्शन का है, यहाँ तक पहुचते हुए ऐसी सतर्कता का वैचारिक निर्माण हो ही जाना चाहिये। जव विषमता के विकराल रूपो की जानकारी के बाद समता के सिद्धान्त, जीवन प्रयोग एव आत्मानुभूति जागरण का सम्यक् ज्ञान हो जाय तव सभी क्षेत्रो की दुर्वलताओ एव उनके कारणो का ज्ञान एव उनसे वचते रहने की सतर्कता उत्पन्न हो जाना अनिवार्य है, क्योकि परमात्म-दर्शन की प्रेरणा ही आत्मा को परमात्मा के समकक्ष पहुचाने की होनी है।

आत्मा एव परमात्मा के अन्तर को यदि एक ही शब्द मे बताया जाय तो वह है विषमता। यह स्वरूप की विषमता होती है। अन्तर मिटता है तब स्वरूप-समता आती है। समूचा मैल कट जाता है तो सम्पूर्ण निर्मलता की आभा प्रस्फुटित होती है। यह आभा ही आत्मा की परम स्थिति है और उसे परमात्मा बनाती है। इस कारण मूल समस्या यह है कि इस अन्तर को समझा जाय और उसे मिटाने की दिशा मे आगे गति की जाय।

समता इन्सान और भगवान की

एक शेर है - "खुदी को कर बुलन्द इतना कि खुदा बन्दे से खुद पूछे बता तेरी रजा क्या है।" इसका भाव भी यही है कि खुद से खुदा बनता है, मगर सवाल है खुद को उस हद तक बुलन्द बनाने का। इन्सान और भगवान की समता का मूल अवरोध है कर्म और मूल शस्त्र है कर्म। अवरोध वह कर्म जो किया जा चुका है और जिसका फल भोगे बिना छुटकारा नही मिलेगा और शस्त्र है वह कर्म जिसकी साधना करके कर्म-बन्ध को काट देना है। कर्म का सीधा अर्थ है कार्य। जो किया जा चुका है, वह फल अवश्य देता है – जैसा काम, वैसा फल। इसलिये पहली बात तो यह है कि अच्छा और भला काम किया जाय, जिससे शुभ फल मिले। अच्छा और भला काम पहिचाना जाता है खुद की महसूसगिरी पर जो सुधर कर पैनी बन चुकी हो।

इन्सान और भगवान की समता मे अवरोध बने हुए होते है पूर्वार्जित कर्म। आत्मा को अनादि अनन्त कहा है तो पहले के कुविचारो एव कुकृत्यो का जितना कर्म बन्ध इसके साथ लगा हुआ है, उसे काटने का और नया कर्म बन्धन न होने देने का दुहरा प्रयास साथ-साथ करना होगा। एक गन्दे पानी का पोखर है, उसे साफ करना है तो दुहरा काम साथ-साथ करना पडता है। एक तो उसमे बराबर गन्दा पानी लाने वाले नालो को रोकना और दूसरा, उसके गन्दे पानी को बाहर फैंकना। तब कही जाकर उस पोखर की सफाई हो सकेगी। आत्मा के मैल रहित होने का अर्थ ही परमात्म-स्वरूप तक पहुँचना है जब दर्पण अपनी उच्चतम सीमा तक स्वच्छ कर लिया जाता है तो अपनी निर्मलता से न स्वय वही सुदर्शनीय होता है बल्कि जो भी उसके समक्ष आता है उसके प्रतिबिम्ब को भी सुदर्शनीय बना लेता है। इन्सान और भगवान की समता की यही आदर्श स्थिति होती है।

यह कर्मण्यता का मार्ग है

यह आदर्श समता कर्मण्यता के कठोर मार्ग पर चल कर ही प्राप्त की जा सकती है। कर्मण्यता बन्धनो को काटने मे—मैल को साफ करने मे और आने वाले व धनो तथा मैल से दूर रहने मे। यह सतर्क वृत्ति एव पराक्रम दशा समता की आराधना से वनती और पनपती है। विचारो में समता, वाणी मे समता एव आचरण मे समता—तभी कर्मण्यता के मार्ग पर साधक के चरण तेजी से और मजवूती से आगे वढते हैं।

पूर्वार्जित कर्मों को परमात्म-स्वरूप के वीच मे आने वाले आवरण के रूप मे देखा गया है। जैसे सूर्य के वीच मे वादल आकर उसके तेज को ढक लेते हैं, उसी तरह ये आवरण आत्मा के अनन्त तेज को ढक लेते हैं। किन्तु ज्यो ही वादल हटते हैं कि सूर्य पुन उसी तेजस्विता के साथ चमक उठता है। वस्तुत सूर्य की चमक लुप्त नही होती है, मात्र वादलो के आवरण मे ढक जाती है। यही कारण है कि आवरण हटते ही प्रकाश यथावत् रूप मे प्रकट हो जाता है। वैसे ही आत्मा का मूल स्वरूप परम विशुद्ध एव परम प्रकाश-मान होता है किन्तु ससार के परिभ्रमण चक्र मे वह एक भव से अनेको भव मे घूमती है तो अपने कृत कर्मों द्वारा अपने स्वरूप पर कर्म-वध के आवरण चढाती रहती है। जितने अधिक दुष्कर्मों मे वह लिप्त होती है, उतने ही उसके आवरण प्रगाढ होते है। आवरण जितने प्रगाढ होते हैं, उन्हे हटाने का पुरुष र्थ भी उतना ही कठिन करना पडता है।

सम्पूर्ण दर्शनो एव सिद्धान्तो का एक ही सार है कि यह आत्मा अपने कर्मवधनो को समाप्त करके मोक्ष का अजरामर पद प्राप्त करले। इसे दूसरे शव्दो मे यो कह दीजिये कि आत्मा अपने ज्ञान एव विवेक से अपनी श्रद्धा एव निष्ठा से तथा अपने आचरण एव व्यवहार से अपने स्वरूप पर लगी विषय-कषाय की कालिख को इतनी सफाई से धो डाले कि वह स्वरूप परम उज्ज्वल वन कर निखर उठे। जैन दर्शन ने इस विधि पर वहुत ही विस्तार से प्रकाश डाला है। आत्मा के ससार चक्र मे भ्रमण करने तथा इस चक्र से स्वतन्त्र वनने का विशद् विश्लेषण नव तत्त्व सिद्धान्त मे पूर्णरूपेण दिया गया है।

यह पहले वतलाया जा चुका है कि चेतन तत्त्व एव जड तत्त्व के सम्मिलन से ही ससार के सम्पूर्ण क्रियाकलापो की परिणति होती है। चेतन तत्त्व है आत्मा तथा जड तत्त्व है शरीर। शरीर मे जब तक आत्मा का निवास रहता है तव तक यह जीवितावस्था होती है। शरीर के सिवाय भी जितने दृश्य पदार्थ इस ससार मे दिखाई दे रहे हैं सभी जड की श्रेणी मे आते हैं। इन सभी जड पदार्थों को जव-जव चेतन तत्त्व का सयोग मिलता है, तव तव उनमे विविध प्रकार की हलचल पैदा होती है। चेतन को जीव भी कहते हैं जिसका लक्षण ज्ञान, दर्शन और उपयोग होता है और जिस कारण वह सुख दु ख, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि भावो का अनुभव करता है। जीव तत्त्व के ही दो भेद हैं—(१) ससारी तथा (२) सिद्ध। ससारी जीव चार गतियो (१) मनुष्य (२) देव (३) तिर्यन्च, एव (४) नरक मे भव भ्रमण करते रहते हैं। जीव की ही पांच जातियाँ–एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय (असज्ञी एव सज्ञी) होती हैं। इस दृष्टि से इन्द्रियाँ भी पाच ही मानी गई हैं – स्पर्श (शरीर), रसना (जीभ), घ्राण (नाक), चक्षु (आँख), तथा श्रोत्र (कान)। जीव से इतर सभी तत्त्व अजीव या जड होते हैं। इसे अचेतन भी कहते है। इसके पाच भेद है—पुद्गल, धर्म (गति), अधर्म (स्थिति), आकाश और काल।

इस प्रकार जीव अजीव से सम्बद्ध होकर जब क्रिया करता है तो उस क्रिया के अनुसार जीव के साथ कर्मों का वन्ध होता है। कर्मों के शुभ पुन्ज को पुण्य तत्त्व तो अशुभ पुन्ज को पाप तत्त्व कहते हैं। पुण्य नौ प्रकार से अर्जित होता है—अन्न, पान, स्थान, शयन, वस्त्र, मन, वचन, काया एव नमस्कार। इसी प्रकार पाप अठारह प्रकार से कमाया जाता है—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान (मिथ्यारोप), पैशुन्य (चुगलखोरी), परनिन्दा, पाप मे रुचि और धर्म मे अरुचि, माया-मृपावाद (झूठ-कपट) तथा मिथ्यादर्शन।

अपनी विविध क्रियाओ के फलस्वरूप पुण्य अथवा पाप के कर्मपुन्जो के आने के मार्ग को आश्रव तत्त्व कहा है तो इस मार्ग को रोकने का नाम सवर तत्त्व है। आश्रव के मार्ग हैं—मिथ्यात्त्व, अविरति, प्रमाद, कपाय तथा योग। इसी प्रकार इनसे विपरीत अर्थात् सम्यक्त्व, विरति (व्रत), अप्रमाद, अकपाय

तथा अयोग नश्वर तत्त्व के अग हैं। ये कर्म पुन्ज जो आत्मा से सम्बद्ध होते है, उन्हे वध तत्त्व माना गया है।

आत्मा का चरम लक्ष्य एव अन्तिम (नवमां) तत्त्व है—मोक्ष। मोक्ष प्राप्त तव होना है जब कर्म-वधन से आत्स स्वरूप सर्वथा मुक्त हो जाय। इसका उपाय यह वताया गया है कि सवर तत्त्व के माध्यम से आने वाले कर्म प्रवाह को रोका जाय, किन्तु पहले से जो चिपके हुए कर्म है, उन्हें क्षय (नष्ट) करना पडेगा। इस क्षय करने वाले तत्त्व को निर्जरा तत्त्व कहा गया है। कर्मो की निर्जरा तप सयम याने समत्व योग की कठोर आराधना से होती है। इस दृष्टि से मोक्ष प्राप्ति के चार साधन बताये गये हैं – सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप। आत्मा जव इन चार साधनो का परम पुरुषार्थ करती है और अपने समस्त कर्म पुन्ज को नष्ट कर देती है तव वह ससारी से सिद्ध वन जाती है—आत्मा से परमात्मा वन जाती है। यही जीवन विकास यात्रा का गन्तव्य माना गया है।

अत मुख्य समस्या है—कर्म स्वरूप को समझ कर कर्म वधनो को हटाने की। गये कल का जो जीव का कर्मवधन होता है, वही उसका आज का भाग्य हो जाता है और आज वह अपने कार्यो से जिस प्रकार का कर्म-वधन करता है, उसके ही फलाफल के रूप मे वह उसका आने वाले कल का भाग्य वन जाता है। कर्मवधन का यही चक्र निरन्तर घूमता रहता है और उसी के अनुसार इस जीव के विभिन्न जन्म-मरण चलते हैं, ऊची नीची गतियाँ मिलती हैं अथवा जीवन मे सुख-दु खो के दौर चलते हैं। जव तक सम्पूर्ण कर्म-वधन से मुक्ति नही मिलती, तव तक ससारी आत्मा ससार मे ही भटकती रहती है—मोक्ष पद प्राप्त नही कर सकती है।

कर्मो के स्वरूप तथा उनकी सक्रियता पर इस हेतु दृष्टि डाल लेना समुचित रहेगा। सामान्य भाषा मे कर्म का अर्थ होता है कार्य, जैसे खाना, पीना, चलना, फिरना आदि। किन्तु दार्शनिक दृष्टि से कर्म की परि-भाषा होगी कि जव ससारी जीव राग द्वेष युक्त होकर मन, वचन एव काया से विविध प्रवृत्तियाँ करता है तव आन्तरिकता मे स्पन्दन जैसा होता रहता है जिसके चुम्वकीय प्रभाव से जो कार्माण वर्गणा के पुद्गल आत्म स्वरूप के साथ

चिपक जाते हैं, उन्हे कर्म कहते है। ये कर्म अपने शुभाशुभ फल दिये बिना आत्मा से विलग नही होते हैं। कर्म इन्हें इसलिए भी कहते हैं कि ये जीव के करने से होते हैं। कर्म वध का मूल कारण माना गया है—राग और द्वेष। इनके परिणमन से शुभ कर्मों का फल शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल अशुभ होता है।

ये कर्म सख्या मे आठ वताये गये हैं। कारण आत्मा के मुख्य आठ गुण होते हैं और इन गुणो पर आवरण चढाने वाले ये आठ कर्म होते है—(१) ज्ञानावरणीय (२) दर्शनावरणीय (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गौत्र, एव (८) अन्तराय। इनमे से चार—ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय को घाती कर्म कहा है और शेष चार को अघाती। घाती कर्म आत्मा के मुख्य गुणों—ज्ञान, दर्शन चारित्र्य व सुख की घात करते है। इन घाती कर्मों को क्षय किये विना आत्मा को कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती है। इन आठ कर्मों का सामान्य विवेचन निम्न है—

(१) ज्ञानावरणीय कर्म --जो कर्म आत्मा की ज्ञानवृद्धि को आच्छादित कर देता है उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। जव स्वय ज्ञानार्जन न करके दूसरो के ज्ञानार्जन मे वाधाएँ पैदा की जाती हैं अथवा पाखड या दभ से अज्ञान या कुज्ञान की प्रतिष्ठा की जाती है तो ऐसा करने वाले को इस कर्म का वध होता है, जिसमे इस जीव की ज्ञानशक्ति पर आवरण चढ जाते हैं। ज्ञान और सम्यक् ज्ञान अर्थात् समतामय ज्ञान से वह दूर हटता जाता है और अज्ञान के अधकार मे भटक जाता है। वैचारिक दृष्टि से जव तक वह पुन सजग नही वनता और ज्ञानाराधन के लिये कठोर जीवट पैदा नही करता तव तक वह आवरणो को भेद नही पाता है। परन्तु यदि ज्ञानपूर्वक साधना को अपनाकर प्रायश्चितपूर्वक वह आगे वढता रहता है तो कर्म के आवरण हटते जाते है और ज्ञानार्जन की उसकी शक्ति एव क्षमता पुन प्रकट होती रहती है। अज्ञान के अधकार के साथ कठिन सघर्ष के वाद समता साधक के जीवन मे ज्ञान का सूरज उदय होकर ही रहता है।

(२) दर्शनावरणीय कर्म— यह कर्म आत्मा की पदार्थों को देख सकने की शक्ति को आच्छादित कर देता है। जैसे कि आखो मे देखने की शक्ति

होती है परन्तु उन पर गाढी पट्टी बाध दी जाय तो वह शक्ति दब जाती है, उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म के बधन मे आत्मा की दर्शन शक्ति बाधित हो जाती है। इस कर्म को राजा के द्वारपाल की तरह माना गया है कि जो राजा के दर्शन करने पर रोक लगा देता है याने कि इस कर्म को क्षय किये विना आत्मदर्शन एव परमात्मा दर्शन की बाधाए दूर नही होती हैं। दृष्टि दर्शन के अनुसार सामान्य अवबोध–दर्शनशक्ति को अवरुद्ध करने वाले इस कर्म बध के कुफल से आत्मा पदार्थों के सामान्य अवबोध से वचित रहती है।

(३) **वेदनीय कर्म**—दूसरो को जैसी वेदना दोगे, वैसी ही स्वय को भी मिलेगी। जैसा व्यवहार अपने मन, वचन एव काया से दूसरो के साथ किया जायगा, वैसा ही प्रतिफल यह वेदनीय कर्म, वैसा करने वाले को भी देता है। इसलिये इसे दो प्रकार का माना गया है–साता वेदनीय एव असाता वेदनीय। साता वेदनीय कर्म के उदय से जीव शारीरिक एव मानसिक सुखो का अनुभव करता है तथा असाता वेदनीय के उदय से वह दुखो का अनुभव करता है। इस कर्म की शहद लपेटी तलवार से उपमा दी गई है कि शहद चाटने का सुख तो क्षणिक होता है मगर तलवार की धार से जीभ के कटने का दुख लम्बा रहता है। शहद से साता और तलवार की धार से असाता। ससार के सभी सुख सदा दुख मिश्रित ही होते है क्योकि जीव की क्रियाए भी सामान्यतया वैसी ही होती हैं। सुखद व्यवहार से सुखद तो दुखद व्यवहार से दुखद वेदना भोगनी पडती है। समता की एकनिष्ठ साधना के साथ जब सम्पत्ति एव विपत्ति मे अनुभूति की एकरूपता आती है तब इस कर्म का क्षय आरम्भ हो जाता है।

(४) **मोहनीय कर्म**—इस कर्म को आठो कर्मो का नायक माना गया था। इसका प्रभाव मदिरा के समान होता है। मदिरा जिस प्रकार मनुष्य को उसकी बुद्धि भ्रष्ट करके चेतनाशून्य वना देती है इसी प्रकार मोहनीय कर्म के दुष्प्रभाव से जीवन अपने ही हिताहित की ज्ञान सज्ञा खो देता है और अपने सत्स्वभाव को विकृत वना डालता है। जड पदार्थों मे उसकी प्रगाढ ममता पैदा हो जाती है और वह व्यामोहित सा कर्त्तव्य हीन बन जाता है। जीवन मे मोहजनित दशाओ एव अन्ध मिथ्या श्रद्धान से इस कर्म का बध होता है। मोहवृत्ति सबसे अधिक चिकनी होती है जो चैतन्य को न तो स्वरूप बोध की

ओर उन्मुख होने देती है और न सम्यक् आचरण की ओर। मोहनीय कर्म की प्रवलता इतनी मानी गई है कि यदि अकेला यह एक ही कर्म आत्म स्वरूप पर से छूट जाय तो फिर सारे कर्मों का वृक्ष बुरी तरह से हिल कर धराशाही हो जायगा क्योकि मोह ही जीवन मे फैली हुई सभी प्रकार की विषमताओ का जनक होता है। इस कारण एक वार अगर मोह हिल जाय तो फिर विषम-ताओ के हिल कर हवा हो जाने मे ज्यादा देर नही लगेगी। मुख्यतया मोह के कारण ही राग और द्वेष की वृत्तियाँ भडकती हैं। जो अपना माना जाता है उस पर राग तो जिसे अपना या अपनो का विरोधी मानते हैं उस पर द्वेष के भाव मडराते हैं। इन्ही भावो मे विषमताए वनती जाती हैं, अत मोह या ममता का जितनी हल्की वनाते जायेंगे या समाप्त कर देंगे, उसी रूप मे समता का विकास होता चला जायगा।

(५) आयु कर्म—आयु कर्म की स्थिति से तदनुसार जीव अपने एक जीवन मे जीवित रहता है या मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इस कर्म की कारागृह से उपमा दी गई है कि जितनी अवधि का दड किसी न्यायालय द्वारा मिला है, वदी को उतनी अवधि वैसे कारागृह मे पूरी करनी ही होगी। आयु जव तक रहेगी, जीवन का क्रम चलेगा और जिस क्षण समाप्त हो जायगी, कुछ भी हो, मृत्यु उसका वरण कर लेगी। दूसरो को जीवन दो—उनकी रक्षा करो तो स्वय को भी आयु की दीर्घता प्राप्त होती है। कम एक प्रकार से दान का प्रतिदान ही होता है। दूसरो को मारो तो आप मार से कैसे वच सकेंगे ? इस तरह यह कर्म आत्मा को वधानुसार अमुक समय तक अमुक योनि मे रोककर रखता है।

(६) नाम कर्म—इस कर्म वन्ध के द्वारा गति, जाति आदि की विभिन्न पर्यायो की प्राप्ति होती है। एक योनि से दूसरी योनि मे यही कर्म ले जाता है तथा इसी के प्रभाव से शरीर की अवस्था तथा व्यवस्था निश्चित होती है। इस कर्म को चित्रकार माना गया है जो देव, नारक, मनुष्य पशु, पक्षी के शरीर, इन्द्रिय, अवयव, वर्ण, गध, रस, स्पर्श आदि की रचना करता है। यह रचना शुभ एव अशुभ के रूप मे दो प्रकार की होती हैं। शुभ कार्यों से शुभ नाम कर्म तो अशुभ कार्यों से अशुभ नाम कर्म का वध होता है। अच्छी गति मिले तो विकास के अच्छे अवसर मिलते हैं तथा बुरी गति मे आत्म-विकास की चेतना ही लुप्त रहती है।

(७) गौत्र कर्म –यह कर्म उस स्थिति का निर्धारण करता है कि जीव को कौनसा कुल, जाति, परिवार आदि मिले और उनमे कैसी उच्चता अथवा नीचता हो। इस कर्म की तुलना कुम्हार से की गई है जो एक ही तरह की मिट्टी से तरह-तरह के भाडें बनाता है जिनमे एक भाडे मे अक्षत, चदन आदि श्रेष्ठ पदार्थ रखे जाते है तो दूसरे भाडे मे शराब भर दी जाती है। गति और जाति मे इसी प्रकार ऊचा या नीचा स्थान दिलाने वाला यह कर्म होता है।

(८) अन्तराय कर्म - अन्तराय का अर्थ होता है बाधा। बाधा जब जीव दूसरो की प्राप्तियो मे डालता है तो उसके लाभ मे भी बाधाएँ खडी हो जाती है। लेकिन जो जीव दूसरो की बाधाओ को हटाने में अपना सत्पुरुषार्थ लगाता है, उसे अबाध रूप मे विविध उपलब्धियाँ होती रहती हैं। उद्योग करने पर जब कार्य सिद्ध नही होते हैं तो वह इसी कर्म का असर होता है। अन्तराय कर्म के उदय से आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा बल सम्बन्धी शक्तियो मे बाधाए उत्पन्न हो जाती हैं। इसके ही कारण जीवो में साहस, शौर्य, आत्मबल आदि गुणो की न्यूनाधिकता पाई जाती है। इस कर्म को कोपाध्यक्ष की उपमा दी गई है कि जो राजा का आदेश हो जाने के बाद भी अपनी इच्छा के अनुसार लाभ प्रदान करता है। आत्मा रूपी सम्राट की दान, लाभ, भोग, आदि की अनन्त शक्ति होती है किन्तु इस कर्म का बधन उन शक्तियो के उपभोग पर अपनी बाधा का ताला जड देता है।

कर्मवाद की यह धारणा कर्मण्यता पर आधारित है कि प्रत्येक जीव अपने भाग्य का स्वय ही निर्माता है। जैसी क्रिया वह करता है वैसे कर्मों का उसके बधन होता है तथा जैसे कर्मों का उसके बधन होता है, वैसा ही फल उनका उसे भुगतना पडता है। यह जीव के अपने पुरुषार्थ पर ही निर्भर है कि वह अपना कैसा भाग्य बनाता है। वह जैसा भी अपना भाग्य बनाता है, वह अटल रहता है, उसमे कोई भी शक्ति किसी भी तरह का बदलाव लाने में असमर्थ मानी गई है, लेकिन अपना भाग्य बनाने मे जीव को पूर्ण स्वतन्त्रता है। वह जैसा चाहे, उस तरह मे अपने आज को ढाले ताकि वह उसके आने वाले कल का भाग्य बन सके।

इन आठ श्रेणियो मे सभी प्रकार के पूर्वार्जित कर्मों का समावेश हो जाता है। आने वाले नये कर्मों की श्रेणिया भी ये ही होती हैं। ये कर्म-बन्धन हर कदम पर विषमता बढाते है, अत इन्हें काटना व रोकना समता

की दिशा मे जीवन को अग्रसर बनाता है। जिस मार्ग पर चल कर इन कर्म-रूपी शत्रुओ से लडा जाता है, वही कर्मण्यता का मार्ग कहलाता है और जो इन शत्रुओ को सम्पूर्णत परास्त कर देता है, वही वीतराग कहलाता है। आत्मा इसी मार्ग पर चल कर परमात्मा बनती है।

गुणो के स्थानो को पहिचानें और आगे बढ़ें

प्रत्येक के जीवन मे अच्छाई और बुराई— गुण और अवगुण के दोनो पक्ष साथ-साथ चलते हैं। जीवन को अवगुणो से मोड कर गुण-प्राप्ति की ओर ले जाया जाय—इस दृष्टि से कुछ सोपान बनाये गये है ताकि जीवन उस समय कहा चल रहा है—यह जानकर उसे ऊपर के सोपानो पर चढाते रहने का तब तक सतत प्रयास किया जा सके, जब तक वह अन्तिम सोपान के लक्ष्य तक न पहुच जाय। गुणो के चौदह स्थानो को गुणस्थान कहा गया है।

जब चैतन्य अज्ञान एव अन्धविश्वासो के घने बादलो से घिरा रहता है और अपने स्वरूप बोध से अत्यन्त दूर रहता है तब उसकी अत्यन्त निकृष्ट अविकसित अवस्था को प्रथम गुणस्थान कहते हैं। इस अवस्था मे आत्मा पर मोह का प्रबल साम्राज्य रहता है, फलस्वरूप वह वस्तु-तत्त्व को अतत्त्व के रूप मे समझता है। इस विपरीत किंवा मिथ्या दर्शन के कारण ही इसे मिथ्यात्व गुण स्थान कहते हैं।

जब मोह का आवरण शिथिल पडता है और चैतन्य स्वरूप बोध की ओर उन्मुख होता है तब आत्म-विकास के प्रथम सोपान पर चरण बढते हैं जिसे दार्शनिक परिभाषा अविरति सम्यग्दृष्टि किंवा चतुर्थ गुणस्थान कहते हैं। यही सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव होता है। किन्तु जब तक-स्वरूप बोध की धारा स्थायित्व नही ले लेती है तब तक कभी-कभी ऐसी अवस्था भी बनती है कि न स्वरूप बोध पर दृढ प्रतीति हो और न अप्रतीति—तात्पर्य यह है कि जब ऐसी डावाडोल स्थिति रहती है कि न वस्तु तत्त्व पर पूर्ण विश्वास होता है और न अविश्वास। इस अवस्था को मिश्र दृष्टि किंवा तृतीय गुणस्थान कहा गया है।

जब स्वरूप-बोध को प्राप्त करके भी मोह के प्रबल थपेडो से आत्मा पुन अधोगामिनी बनती है तब पतनोन्मुख अवस्था मे जब तक स्वरूप-बोध का यत्किञ्चित् आस्वाद रहता है, तत्कालीन अल्पसामयिक अवस्था को सास्वादान किंवा द्वितीय गुणस्थान कहते हैं।

पूर्व प्रतिपादित स्वरूप-बोध जब कुछ स्थायित्व ले लेता है और तत्त्व रुचि सुदृढ बन जाती है किन्तु वह दृष्टि जब तक कृति मे नही उतरती तब तक चौथा अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान रहता है। पर ज्योही व्रताचरण रूप त्याग प्रारम्भ हो जाता है कि देशविरति रूप पाचवे गुणस्थान की भूमिका प्राप्त हो जाती है।

आचरण के चरण जब दृढता से आगे बढते हैं तो साधुत्व की स्थिति आने लगती है। जब तक इस स्थिति मे प्रमाद-आलस्य नही छूटता तब तक छठा गुणस्थान प्रमत्त साधु का रहता है और प्रमाद छूट जाने पर सातवा अप्रमत्त साधु गुणस्थान आ जाता है। फिर तत्पर रहकर कर्म बन्धनो को जिस-जिस परिमाण मे दबाते या नष्ट करते रहते हैं, गुणस्थानो के सोपान आगे से आगे निवृत्ति बादर, अनिवृत्ति बादर, सूक्ष्म सम्पराय, उपशान्तमोह और क्षीणमोह तक इस जीवन को बढाते जाते हैं। मोह को क्षीण कर लिया तो सर्वोच्च ज्ञान केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा तेरहवें गुणस्थान मे प्रवेश मिल जाता है जो सयोगी केवली का होता है। फिर मामूली क्रियाए भी जब समाप्त हो जाती हैं तो अन्तिम गुणस्थान अयोगी केवली का आ जाता है।

ये गुणो के स्थान हैं, किन्तु इनमे बढ जाना या कषायविजय की अपूर्णावस्था मे पुन गिर जाना मन की कषाय वृत्तियो पर निर्भर रहता है। जीवन के जो मूल गुण सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य के रूप मे होते हैं, इनके साथ विषय, कषाय आदि वृत्तियो का जिस तरह ऊचा-नीचा तारतम्य रहता है उसी परिमाण मे सोपानो पर चढना उतरना भी होता है। ज्यो-ज्यो मुख्यत मोह की प्रकृतियां छूटती जाती हैं, त्यो-त्यो जीवन मे गुणो की वृद्धि होती जाती है। मुख्यत इस गुणवृद्धि के अनुसार ही गुणस्थानो का यह क्रम बनाया गया है।

जितनी विषमता कटे, उतने गुण बढ़ें

मन पर निग्रह करना सबसे पहली और सबसे बडी बात होती है। मन जब नियन्त्रित नही होता है तो वह वृत्तियो की विपमता मे भटकता है। एक ओर वह काम-भोग की कामनाओ मे फिसलता है तो दूसरी ओर, मान, माया, लोभ आदि कपायो मे उलझता है। जितना वह विपय और कषाय मे फसता है, उतना ही अधिक मोहाविष्ट होता जाता है। जितना मोह ज्यादा, उतनी ही मन की विपमता ज्यादा। मन विपम तो वचन विषम और तब कार्य भी विपम ही बनता है।

विपमता की कुप्रवृत्ति के साथ जब एक व्यक्ति चलता है तो उसका कुप्रभाव उसके आसपास के वातावरण पर पडे बिना नही रह सकता। यही वातावरण व्यापक होता है और परिवार, समाज एव राष्ट्र से लेकर पूरे विश्व तक फैलता है। विपमता के थपेडो से गुणो की भूमिका समाप्त होती जाती है एव चारो ओर दुर्गुणो को बढावा मिलने लगता है। जब जीवन मे दुर्गुणो का फैलाव हो जाता है तो वह मिथ्यात्व के वातचक्र मे टकराता रहता है और पतन की राह बढता जाता है।

इस कारण जहाँ-जहाँ से जितनी विपमता को काटी जायगी, वहाँ-वहाँ उतने अशो मे मानवीय सद्‌गुणो का विकास किया जा सकेगा। व्यक्ति अपने कर्म-बन्धनो से सघर्प करेगा और अपनी विपमता को काटेगा, तब वह समाज को समता की दृष्टि दे सकेगा, क्योकि वह स्वय गुणो के स्थानो मे ऊपर उठता हुआ समाज के लिये उन्नायक आदर्शों की प्रतिष्ठा करेगा।

परमात्म-स्वरूप की दार्शनिक भूमिका

इस दार्शनिक भूमिका को भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि गुणो के स्थानो मे विकासशील आत्मा किस प्रकार अपने पूर्वार्जित कर्मों से सघर्ष करके उनका क्षय करती है और नये कर्म-प्रवाह को भी कैसी साधना के बल पर अवरुद्ध बना देती है? उसके बाद ही वैसी आत्मा परमात्मा के स्वरूप को वरण करती है।

यह दृश्यमान संसार जीव तथा अजीव तत्त्वो पर आधारित है। जीव भी यहा स्वतन्त्र नही है—अजीव तत्त्व के साथ अपने कर्म-बन्धनो के कारण बंधा हुआ है। जीव और अजीव के सम्मिश्रण से समस्त जीवधारी दिखाई देते हैं तथा अजीव के बन्धन से ही जीवधारी अजीव तत्त्वो की ओर मोहाविष्ट भी होता है। यह मोह चाहे अपने या दूसरो के शरीर के प्रति हो अथवा धन, सम्पत्ति या अन्य पदार्थों के प्रति। यह मोहाविष्ट दशा जीवन मे राग और द्वेष की प्रवृत्तियां जगाती हैं और उन प्रवृत्तियो के वशीभूत होकर जीवधारी विविध कर्म करते हुए उनके फलाफल मे भी अपने को प्रतिबद्ध बनाते हैं।

यदि जीवात्मा शुभ कार्य करता है तो उसके पुण्य कर्मों का बध होता है और उनका फल भी उसे शुभ ही मिलता है। अशुभ कार्य से पाप कर्मो का बन्ध होता है और उसका अशुभ फल भी भोगना पडता है। इस प्रकार पुण्य और पाप के तत्त्व जीवन मे सुदशा एवं कुदशा की रचना करते हैं। यह कर्म-प्रवाह आकर आत्मा से संलग्न होता है, उस प्रक्रिया को आश्रव तत्त्व कहा गया है। आस्रव यानी कर्मो का आना। आते हुए कर्मों को रोकने के पराक्रम को सवर तत्त्व कहा गया है। जब जीवन मे सवर तत्त्व की आराधना की जाती है तो जीवन मे उभार आता है क्योंकि प्रति क्षण जब समतामय दृष्टि एवं कृति से चला जाता है तभी संवर क्रियाशील होता है। पूर्वार्जित कर्मों को नष्ट करने की दिशा मे जो प्रयास किया जाता है उसे निर्जरा कहते हैं। सवर से बाहर आते कर्मो को रोका जाय और निर्जरा से भीतर के कर्मों का क्षय किया जाय तो कर्म-मुक्ति की ओर स्वस्थ गति बनती है। सम्पूर्ण कर्म-मुक्ति को ही मोक्ष कहते हैं। कर्म बाधते हैं वह बध तत्त्व और छूटते हैं वह मोक्ष तत्त्व।

इस प्रकार पूरे जीवन का निचोड़ रूप नव-तत्त्व—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष दिखाई देते हैं। पुण्य से अच्छे सयोग मिलते हैं और उनसे विकास के अवसर भी किन्तु फिर भी पुण्य उस नाव की तरह होता है जिसमे बैठकर नदी को पार कर लें किन्तु दूसरे तट पर कदम रखने के लिए तो नाव को भी छोडनी पडती है। इस कारण पुण्य की सहायता से ससार मे जो सुख-वैभव की उपलब्धियाँ होती हैं, उन्हें छोडने को भी चरम त्याग कहा है। त्याग को जीवन का उत्थान मार्ग भी इसलिए बताया गया है कि जीवन विषमता के इस तट से साधना की नदी पार करके समता के

दूसरे तट पर पहुँच जाय। भोग मिलते हैं किन्तु मिले हुए भोगो को भी भावनापूर्वक छोड देना—इसी मे त्याग की विशेषता रही हुई है। जहा त्याग है, वहाँ विषमता पास मे भी नही फटक सकती है। त्याग जितना बढता जायगा, समता का क्षेत्र भी बढता जायगा और यहा तक कि परमात्मा स्वरूप के साथ समता स्थापित हो जायगी।

त्याग : जीवन-विकास का मूल

जीवन पूर्णत पृथक्-पृथक् विभागो मे विभाजित नही किया जा सकता है। ससार का जीवन अलग और साधना का जीवन अलग—ऐसा नही होता। जीवन मे जिन सस्कारो का सामान्यतया निर्माण होता है, उन्ही की पृष्ठभूमि पर ससार का जीवन भी चलता है और वैराग्य का जीवन भी बनता है। यदि सस्कार त्याग की आधारशिला पर निर्मित हुए तो वे ससार को भी स्वर्ग बनाने का प्रयास करेंगे तथा यदि वे वैराग्य की दिशा मे मुड गये तो आध्यात्मिकता का निर्मल प्रकाश बिखेरे विना नही रहेंगे।

यह त्याग जीवन के वास्तविक विकास का मूल है। जितना लोभ है, उतना ही क्षोभ है। जब मनुष्य लेने की ही कोशिश करता रहता है तो यह तो निश्चित नही है कि वह जो कुछ लेना चाहता है, वह उसे मिल ही जाय, किन्तु लेने के लोभ के पीछे वह अपने आत्मिक गुणो का कितना सर्वनाश कर देता है—इसकी कोई सीमा नही। 'लोभ' शब्द की ऊपर की मात्रा हटा दीजिये—फिर लाभ ही लाभ है। लोभ काटें तो लाभ मिलेगा। लेना छोड कर देना सीखें तो उसके साथ सहानुभूति, सौहार्द्र, सहयोग एव स्नेह की जो मधुर धारा प्रवाहित होगी वह स्व-पर जीवन को श्रेष्ठता का पथगामी बना देगी। यह त्याग इस तरह जीवन की दिशा को ही बदल देता है।

भारत सस्कृति मे त्याग को सदा एव सर्वत्र सम्मान मिला है। जिसने अपना छोडा है, उसे लोगो ने अपने सिर पर उठाया है। त्याग न सिर्फ त्यागी के जीवन मे एक नया ऊर्ध्वगामी परिवर्तन लाता है, बल्कि अपने चारो ओर के वातावरण मे भी जागृति का मत्र फूकता है।

परम पद की ओर गति

समता की उच्चतर श्रेणियो मे जब आत्मा प्रवेश करती है तो उसके मूल स्वरूप का—उसकी आधारगत शक्तियो का प्रकटीकरण होने लगता है। यह प्रकटीकरण ही आत्मा की परम पद की गति का सकेत होता है।

आत्मा के स्वरूप पर जो विषय और कषाय की कालिख तथा क्रोध, मान, माया, लोभ की मलिनता चढी होती है—समता सीधा उन पर अपना असर करती है। क्रोध, कल्पना करें कि किसी भी कारण से आया, किन्तु समता की सुदृढता हुई तो वह उस क्रोध को दबा देगी—फिर उसका उपशम करके ही वह शात नही होगी बल्कि क्रोध को समूचे तौर पर क्षय करने के सस्कारो को वह ढालेगी। समता मान के स्थान पर नम्रता, माया के स्थान पर सरलता और लोभ के स्थान पर त्याग के सस्कारो को पुष्ट बनाती है तो समता विषय-भाव के स्थान पर सयम की लौ भी लगाती है।

इस तरह समता के सोपानो पर चढकर ज्यो-ज्यो विषय-कषाय के आते हुए प्रवाह को रोका और भीतर पडे इस मैल को निकाला जायगा आत्मा का मूल स्वरूप भी त्यो-त्यो चमकता जायगा। जो शक्तिया विषय-कषाय के वेग के नीचे दब गई थी, तब वे प्रकट होने लगेगी और आत्मा को निज की शक्ति का स्पष्ट बोध होने लगेगा। परम पद की ओर गतिशील ऐसी आत्मा ही अपनी सम्पूर्ण मलिनता की मुक्ति के साथ परमात्मा के स्वरूप का वरण करती है।

अप्पा सो परमप्पा

इसीलिये कहा गया है कि यह जो आत्मा है, वही परमात्मा है। परमात्मा ऐसी कोई शक्ति नही, जो प्रारम्भ से परमात्मा रही हो अथवा जिसने इस ससार की रचना की हो। नर से नारायण और आत्मा से परमात्मा—यही प्रकृति का प्राकृतिक विकास-क्रम होता है। नर से जुदा नारायण नही होता और आत्मा से अलग परमात्मा नही। ऐसा कोई विकास नही होता जो सीधा आसमान से गिरता हो। प्रत्येक विकास धरती से शुरु होता है अविकास से आरम्भ होता है। ज्ञान विकास का मार्ग दिखाता है, दर्शन उसमे

विश्वास पैदा करता है तथा कर्म उस मार्ग पर अडिग होकर चलता है, तभी सच्चे विकास की यात्रा प्रारम्भ होती है। प्रकाशपूर्ण विकास के अन्तिम छोर का नाम ही मुक्ति है।

"अप्पा सो परमप्पा" का सिद्धान्त भेद को भूलकर प्रत्येक ऊँची-नीची आत्मा मे आस्था स्थापित करता है तथा उसमे उच्चतम विकास पूरा कर लेने की अटूट प्रेरणा भरता है। कोई आत्माए विशिष्ट है और वे सदा से विशिष्ट ही थी—ऐसी मान्यता समता की भावना से दूर कहलायगी। समता का मार्ग ही यह है कि सारी आत्माओ मे भव्यता होने पर समान विकास की शक्ति रही हुई है—यह दूसरी बात है कि उनमे से कई आत्माए उस शक्ति को प्रस्फुटित ही न करें अथवा सही विकास की दिशा मे अग्रसर न हो। समता की दृष्टि मे विकास का भेद नही है, कर्म का भेद हो सकता है और जो जितना व जैसा प्रशस्त कर्म करता है, वह वैसा व उतना विकास भी प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि समता मूल मे कर्मण्यता को जगाने वाली होती है।

समता का सर्वोच्च रूप

समता कषाय को काटती है, सरलता लाती है। वह मनुष्य को विषय से हटाकर विराग की ओर मोडती है और जीवन को भोग से मोड कर त्याग की दिशा मे गतिशील बना देती है। इसी समता का स्वरूप जितना ऊपर उठता है, आत्मा का स्वरूप उतना ही समुज्ज्वल होता जाता है। समता की साधना, यही कारण है कि समूचे जीवन की साधना होती है और जब समता अपने सर्वोच्च रूप तक उठ जाती है तो वह उस साधक आत्मा को भी परमात्मा के पद तक पहुचा देती है।

विषमता के अंधेरे मे जब यह आत्मा भटकती रहती है, तब इसकी ऐसी दीन हीन अवस्था दिखाई देती है जैसे वह तेजहीन और प्रभावहीन हो। किन्तु समता—सूर्य की पहली किरण ही उसमे ऐसी ताजगी भरती है कि उसका स्वरूप निखरने लगता है और ज्यो-ज्यो समता सूर्य की लालिमा—उसका तेज आत्मा को उभारता रहता है, तब आत्मा के छिपे हुए अनन्त गुण—उसकी अनन्त शक्तिया प्रकट होने लगती हैं। तब उसकी वह प्राभाविकता अनुपम हो उठती है। उसकी वे शक्तिया न स्वय उस आत्मा के विकास को

प्रदर्शित करती हैं, बल्कि समाज को समुच्चय रूप से भी विकास की ओर प्रेरित बनाती हैं।

साध्य निरन्तर सम्मुख रहे

समता के सर्वोच्च रूप की उपलब्धि सरल नही है किन्तु यह प्रत्येक विकासोन्मुख जीवन के लिये साध्य अवश्य है। साध्य जब निरन्तर सम्मुख रहे और चरण उसी दिशा मे बढते रहे तो देर-सबेर से ही सही साध्य की उपलब्धि होकर रहेगी।

इस सारी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर यदि व्यवहार में समता का आचरण आरम्भ किया जाता है तो जीवन की गति उसी ओर मुड़ेगी, जिस ओर समता का साध्य रहा हुआ है। सिद्धान्त, जीवन, आत्मा और परमात्मा के इस चतुर्विध समता दर्शन के ज्ञान से यदि व्यवहार को सजाया और संवारा जाय तो व्यक्ति भी उठेगा तथा व्यक्ति-व्यक्ति के साथ व व्यक्ति-व्यक्ति के प्रभाव से समाज भी उठेगा। यह जन्म यदि अपने समूचे रूप से ऊपर उठ जाता है तो फिर आने वाले जन्म स्वत ही उठ जायेंगे—परमात्म पद की ओर आगे बढ़ेंगे—यह सुनिश्चित है।

: ६ :

समता : व्यवहार के थपेड़ों में

जो जाना है और जिसे जानकर अच्छा समझा है, उसको अगर कार्य रूप नही दिया तो वह जानना महत्त्वपूर्ण एव सार्थक कैसे बन सकता है ? ज्ञान की उपयोगिता आचरण मे रही हुई है। कोई भी दर्शन कितना ही श्रेष्ठ क्यो न हो—किन्तु यदि उससे उसके आचरण की सजीव प्रेरणा नही जागती तो उस दर्शन की श्रेष्ठता भी तब तक उपयोगी नही बन सकेगी। इस कारण व्यावहारिक पक्ष का पलडा हमेशा वजनदार माना जायगा।

आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र मे इसी दृष्टि-विन्दु को लेकर कहा है कि "ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष"—अर्थात् मोक्ष ज्ञान और क्रिया दोनो से होगा। अनाचरित ज्ञान और अज्ञानपूर्ण क्रिया—दोनो जीवन के वास्तविक उत्थान के लिये निरर्थक हैं। जब ज्ञान अपने तेजस्वी स्वरूप को कर्मठ क्रिया मे प्रकट करता है, तभी तो विचार मुक्ति की सबल पृष्ठभूमि का भी निर्माण किया जा सकता है। समता की दार्शनिक पृष्ठभूमि भी तभी सार्थक मानी जायगी जब वह व्यवहार के थपेडो मे भी अपने आपको अपरूप न बनाकर अपनी उपयोगिता प्रमाणित करती रहे।

व्यवहार के प्रबल थपेड़े

किसी वस्तुस्वरूप का ज्ञान होना सरल है किन्तु सम्यक् ज्ञान होना कठिन है और उससे भी अधिक कठिन होना है उस ज्ञान को अडिग रूप मे व्यवहार मे लाना। व्यवहार के मार्ग मे ऐसे-ऐसे प्रबल थपेड़े आते हैं कि अच्छे अच्छे लोग भी कई वार डिग जाते हैं। यह तो व्यक्तिगत जीवन की वात है किन्तु सामाजिक जीवन मे तो ऐसे थपेडे कभी-कभी इतने प्रबलतम होते हैं कि जो सारे सामाजिक जीवन को अस्त-व्यस्त वना देते हैं।

समता वृत्ति के इतिहास पर भी यदि एक दृष्टि डालें तो विदित होगा कि समतामय जीवन को व्यवहाररूप में अपनाने के वीच मे व्यक्तिगत एव समाजगत वाधाओ का आरपार नही रहा है। समाज मे जिस वर्ग के स्वार्थ किसी तरह निहित हो जाते हैं, वह वर्ग अपने स्वार्थों की रक्षा के अन्वेषन मे सदैव विषमता का प्रसार करता रहा है और सचमुच मे यही वर्ग समता का कट्टर शत्रु वन जाता है। जहाँ समता के व्यवहार-पक्ष पर विचार करना है वहाँ इस प्रसग मे गहराई से यह खोजना जरूरी है कि इसकी मूल कमजोरियाँ कौन-सी है और किन उपायो से समता के व्यवहार-पक्ष को व्यक्ति एव समाज दोनो के आधारो पर सुदृढ वनाया जा सकता है।

स्वहित की आरम्भिक सज्ञा

वच्चा गर्भाशय के वाहर आते ही और कुछ समझे या न समझे—अपनी भूख को तो समझ लेता है और उससे पीड़ित होकर स्तनपान के लिए रोना एव मुह फाडना शुरू कर देता है। यह वात मानव शिशु के साथ ही नही है। छोटे से छोटा जन्तु भी अपनी रक्षा के भाव को समझता है। चीटियाँ चल रही हो और वहाँ राख डाल दी जाती है तो वे अपने वचाव के लिए वहाँ से शीघ्र खिसक जाती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि छोटे-वडे प्रत्येक जीवन मे आरम्भ मे ही स्वहित की सज्ञा का उदय हो जाता है।

स्वहित की इस आरम्भिक सज्ञा का विकास तीन प्रकार से हो सकता है जिनका मूल आधार उस प्रकार के वातावरण पर निर्मित होगा—

(१) पहला प्रकार तो यह हो सकता है कि यह स्वहित की सज्ञा एकागी एव जटिल वन कर कुटिल स्वार्थ के रूप मे वदल जाय कि मनुष्य को इसके आगे कुछ सूझे ही नही। अपना स्वार्थ है तो सव है—दूसरो के हित की ओर दृष्टि तक न मुडे। ऐसी प्रवृत्ति गहन विषमता को जन्म देती है और समता की जडो को मूल से ही काटती है।

(२) स्वहित-परहित के सन्तुलन का दूसरा प्रकार एक तरह से समन्वय का प्रकार हो सकता है कि अपना हित भी आदमी देखे किन्तु उसी लगन से दूसरो के हित के लिए भी वह तत्पर रहे। अपने और दूसरो के हितो को इतना सन्तुलित वना दे कि कही उनके वीच टकराव का मौका न आवे। साधारण रूप से समाज मे समग्र दृष्टि से इस प्रकार की क्रियान्विति की आशा की जा सकती है। यह समता की दिशा है।

(३) तीसरा त्यागियो और महानपुरुषो का प्रकार हो सकता है कि परहित के लिए स्वहित का वलिदान कर देना। ऐसे वलिदानी सर्वस्व-त्याग की ऊँची सीमा तक भी पहुँच जाते हैं। सच पूछे तो विश्व को समता का दिशादान ऐसे महापुरुष ही किया करते हैं, क्योंकि उनके त्यागमय चरित्र से ही समता की सर्वोत्कृष्ट स्थिति प्रकाशमय वनती है।

वातावरण के तदनुकुल निर्माण पर यह निर्भर करता है कि यह आरम्भिक सज्ञा रुढ एव भ्रष्ट हो जाय अथवा जागृति तथा उन्नति की ओर मुड जाय।

स्वहित के सही मोड की बाधाएँ

स्वहित की सज्ञा का सही मोड हो तो वह परहित के साथ वलिदान वाद मे भी करे किन्तु सन्तुलन करना तो जल्दी ही सीख लेगी और सन्तुलन की वृत्ति से ही व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन का स्वास्थ्य वहुत कुछ सुधर जायगा। इस सही मोड की सवसे वडी और कडी वाधा है—विषमता। विषमता जो आज है और जो नितप्रति नये-नये जटिल रूपो मे ढलती हुई सामाजिक जीवन को पग-पग पर काटती जा रही है।

जहाँ तक विषमता बढती रहेगी—स्वार्थ सर्वोपरि बना रहेगा और ऐसी मन.स्थिति मे परहित का भाव ही नही उपजेगा, क्योकि अपने स्वार्थ के अन्यायपूर्ण सघर्ष मे मनुष्य परहित को तो हर समय क्षत-विक्षत करता रहेगा—स्वहित-परहित मे सन्तुलन वृत्ति का जन्म ही समता की दिशा को उजागर करता है। समता पहले सन्तुलन को पनपाती है तो उसका विकसित रूप स्वहित के त्याग मे प्रस्फुटित होता है।

प्रत्येक जीवन मे स्वरक्षा का भाव हो—यह अस्वाभाविक नही है किन्तु यह भाव अन्य जीवनो के साथ रलमिल कर त्याग एव बलिदान के ऊँचे स्तरो तक पहुँचे—यह मानव-जीवन एव मानव-समाज का सतत प्रयास होना चाहिये। इस प्रयास के बीच आ ने वाली बाधाओ को समझना, उनके कारणों पर चोट करना तथा उनको जीत कर स्वहित को समता के रग मे रग देना—यही समता का सजग एव सफल व्यावहारिक पक्ष हो सकता है। इसी पक्ष को यहाँ समझने का यत्न किया जा रहा है।

समता का दुर्दान्त शत्रु—स्वार्थ

यूरोपीय दार्शनिक हॉब्स ने एक वाक्य कहा है कि मनुष्य एक भेडिया होता है। इससे शायद उनका यही अभिप्राय रहा होगा कि यदि मनुष्य की स्वार्थ वृत्ति पर उसका स्वैच्छिक एव सामाजिक नियत्रण उपयुक्त मात्रा मे स्थापित न हो तो वह सचमुच मे भेडिया हो सकता है। अगर मनुष्य को अपने ही स्वार्थ पूरे करने की खुली छूट हो तो कहा नही जा सकता कि वह इस स्वार्थ के पीछे अपने-आपको कितना अन्यायी, अत्याचारी एव निर्दयी न बना ले। इतिहास मे इस तथ्य के सैकडो उदाहरण मिलेंगे जब सत्ता, सम्पत्ति या अन्य स्वार्थों मे फसकर मनुष्य ने क्या-क्या अत्याचार नही किये?

यह स्वार्थ ही व्यक्ति और समाज के जीवन मे विषमता की विष बेल लगाने और पनपाने वाला है। व्यक्ति के मन से जन्म लेकर यह स्वार्थ इतनी प्रकार की विविध प्रक्रियाओ मे फैल जाता है कि इसे बोतल के भूत की उपमा दी जा सकती है। अगर इस स्वार्थ को व्यक्ति एव समाज के सुनियत्रण की बोतल मे रहने दे तब तो इस दैत्य का आकार बहुत छोटा भी रहेगा

और खतरनाक भी नही होगा। परन्तु जैसा कि आज है—यह दैत्य बोतल से वाहर निकला हुआ है और समस्त वायु-मडल मे इस तरह छाया हुआ है कि जैसे जो भी सास लेता है—स्वार्थ का असर कम-ज्यादा उस पर पड ही जाता है। जितना यह असर है, उतनी ही यह विपमता जटिल है—यह मान लेना चाहिये।

स्वार्थ को एक वाध की तरह भी माना जा सकता है कि जहाँ इसके सुनियत्रण मे जरा सी भी ढील आई कि यह फिर सारी पाल को तोडकर चारो ओर फैलते हुए पानी की तरह मनुष्य की नैतिकता को डुवो देता है। अत यदि हमे विपमता से दूर हटते हुए समता के मार्ग पर आगे वढना है तो वे उपाय अवश्य ही खोज निकालने होगे जिनके द्वारा स्थायी रूप से स्वार्थ के मदोन्मत्त हाथी पर कडा अकुश लगाया जा सके। अगर यह प्रयोग सफल हो जाय तो निश्चित मानिये कि विपमता की विष वेल को उखाड कर समता के सुवासित सुमन उगाने मे फिर अधिक समय या श्रम नही लगेगा।

सुनियत्रण की दुधारी चाहिये

प्रत्येक आत्मा मे यथायोग्य चेतना का सद्भाव होता है तथा मानव जीवन का तो उन्नत चेतनाशील माना ही गया है। इस चेतना को स्वार्थ के घातक आक्रमणो से वचाने के लिये निम्न दो उपाय मुख्यत हो सकते हैं—

(१) पहला सुनियत्रण तो स्वय आत्मा का अपने ऊपर हो और यही वास्तविक नियन्त्रण भी है। अपने ही ज्ञान और विवेक से जा पतन के मार्ग को पहिचान जाता है, वह अपने जीवन मे व्यावहारिक प्रयोग के नाते अपने को उन विकारो से वचाना चाहता है जो पतनकारक होते हैं। आत्म-नियत्रण की श्रेष्ठता को चुनौती नही दी जा सकती है।

(२) दूसरा नियत्रण होता है सामाजिक नियत्रण। जव तक आत्मा के अनुभावो मे विवेक की पर्याप्त मात्रा नही जागती अथवा विकारो की तरफ वढने की उसमे उद्दाम लालसा होती है, तव तक व्यक्ति मे स्वार्थ को सामाजिक उपायो से ही नियन्त्रित किया जा सकता है। आत्म नियन्त्रण की स्थिति मे भी जव कमजोरी के क्षण आ जाते हैं और फिसलने का खतरा

पैदा हो जाता है, तब भी सामाजिक नियन्त्रण ही मनुष्य के स्वार्थ को आक्रामक बनने से रोक सकता है।

नियन्त्रण की दुधारी इन दोनो प्रकारो को कहा गया है कि हर समय एक न एक धार स्वार्थ के सिर पर खडी रहे ताकि वह बोतल से बाहर निकलने की धृष्टता न कर सके। मन की दुर्बलता तक समाज का नियन्त्रण और उसके कम होने के साथ-साथ स्वयं के नियन्त्रण की मात्रा बढती जाय। इस व्यवस्था से स्वार्थ नियन्त्रित रहेगा और मनुष्य के मन मे समता की वृत्ति घनिष्ठता से जमती जायगी।

सामाजिक नियंत्रण की प्राथमिकता

सामान्य रूप से समाज मे बहुसख्यक ऐसे लोग होते हैं जिनका विवेक वाछित सीमा से नीचा होता है और जो अपने ही अनुशासन को समझने, कायम करने तथा उसका पालन करने की क्षमता से हीन होते हैं। उन्हे नियन्त्रण की परिधि मे लाने के लिये तथा आत्म-विकास की ओर अग्रसर बनाने के लिये आवश्यक हो जाता है कि उस समाज मे राजनीति, अर्थ-नीति, परम्पराओ एव प्रक्रियाओ का गठन इस रूप मे किया जाय की वह गठन नियन्त्रक भी हो और प्रेरक भी। सामाजिक नियन्त्रण की ऐसी व्यवस्था मे साधारण मनुष्य स्वार्थी दैत्य के शिकजे मे न फस सके—ऐसा प्रयास होना चाहिये।

मानव समाज के वैज्ञानिक विकास की ओर एक दृष्टि डालें तो स्पष्ट होगा कि इस स्वार्थ पर सामाजिक नियन्त्रण करने की यत्किचित् व्यवस्था के कारण ही वह पशुता के घेरो को तोडकर मानवता की ओर आगे बढ़ा है। जिसे वर्तमान सस्कृति एव सभ्यता का पूर्व युग कहा जाता है, माना जाता है कि तब मनुष्य पशु की तरह घूमता था और सिर्फ स्वहित को ही समझता था। ज्यो-ज्यो वह अपने अन्य साथियो के सम्पर्क मे आया, उसने ज्ञान, कला, विज्ञान एव दर्शन के क्षेत्रो मे अपने कर्म एव चिन्तन से सस्कृति एव सभ्यता का विकास किया है। जिस सामाजिकता ने उसे विकास के इस

स्तर तक पहुँचाया है, उसी सामाजिकता को यदि समतामय जीवन की नैतिकता से नियन्त्रित बनाई जाय तो निश्चय ही आज के विषम जीवन को नये रूप मे ढाला जा सकेगा।

सामाजिक नियन्त्रण को प्राथमिकता देने का यही रहस्य है कि अविकास की अवस्था मे यही नियन्त्रण अधिक कारगर होता है तथा नियन्त्रित को आत्म-नियन्त्रण की ओर मोडता है। यह सही है कि जो एक बार आत्म-नियन्त्रण के महत्त्व को समझ जाता है, वह फिर आत्म-विकास के सच्चे मार्ग को भी ढू ढ लेता है।

सामाजिक नियन्त्रण का साध्य क्या हो ?

समाज मे एक नागरिक के दूसरे नागरिक के साथ, एक नागरिक सगठन के दूसरे नागरिक सगठन के साथ अथवा नागरिक के राज्य के साथ या राज्य के अन्य राज्यो, राष्ट्रो व अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे कैसे सम्बन्ध हो—इसके अनेक स्वरूप एव प्रकार हो सकते हैं। सामाजिक जीवन की आज की प्रणालियो मे पू जीवाद भी है तो समाजवाद या साम्यवाद भी है, किन्तु किसी भी एक प्रणाली के प्रति दुराग्रह या आग्रह भी वन जाय तो वह साध्य की स्थिति को अस्पष्ट बना देता है। अत जब हम व्यक्ति पर सामाजिक नियन्त्रण की कल्पना करें तो उसके साध्य की स्पष्ट कल्पना हमारे सामने होनी चाहिये।

स्पष्ट है कि मानव समाज का अन्तिम उद्देश्य यही हो सकता है कि मानव स्वार्थ के पशुत्व को छोडकर मानवता का वरण करे और उससे भी आगे त्याग एव बलिदान के पथ पर बढकर समता के चरम आदर्श तक पहु चे एव दैवत्व को धारण करे। सक्षेप मे यह कह दे कि वह स्वहित का त्याग करके भी परहित के लिये अधिक जागरूक बने। इसका अर्थ होगा कि उसे स्वार्थ से भी परार्थ अधिक भायेगा। स्वार्थ छूटेगा तो विषमता कटेगी। जितना परार्थ का भाव दृढ बनेगा, उतने ही अशो मे समता के समरस मे आत्मा आनन्दमग्न बनती जायेगी।

साध्य स्पष्ट रहे तो साधनो में अधिक विवाद बढने की गु जाइश कम रहेगी। ऐसी परिस्थिति मे साधनो के प्रति रूढ भाव धारण करने की वृत्ति भी नही बनती है। जब यह लगता है कि अपनाया हुआ साधन साध्य तक पहुँचाने मे अक्षम बनता जा रहा है तो तुरन्त साधन मे यथोचित परिवर्तन कर लेने मे कोई सकोच नही होगा। तब साध्य की तरफ ही सजग दृष्टि बनी रहेगी।

आत्म-नियन्त्रण की दिशा में

राजनीति, अर्थ एव अन्य पारस्परिक सम्बन्धो को जब सामाजिक नियन्त्रण मे व्यवस्थित रूप मे ले लेंगे तो इन क्षेत्रो में व्यक्तिगत उद्दण्डता को रोका जा सकेगा। अविकास एव अज्ञान के कुप्रभाव से भी व्यक्ति ऐसी अवस्था मे पशुता की ओर नही बढ सकेगा। इस प्रकार एक बार मनुष्य को भेडिया बनाने वाले वातावरण को बदल दिया गया तो यह सम्भव हो सकेगा कि समूचे समाज को सामान्य नैतिकता के धरातल पर खडा किया जा सके याने कि मनुष्य की कम से कम ऐसी वृत्ति तो पूरी तरह ढल ही जाय कि वह स्व-हित एव पर-हित को सघर्ष मे न डाले। वह दोनो के बीच समाज के सभी क्षेत्रो मे सन्तुलन स्थापित कर सके।

जिस दिन समाज इस स्तर पर आरूढ हो जायगा तो उस दिन आत्म-नियत्रण की दिशा भी सर्वाधिक सुस्पष्ट बन जायगी, क्योकि व्यक्ति को उस समय यह ध्यान होगा कि उसकी कमजोरी के क्षणो मे भी समाज उसे उसकी उच्चता से गिरने नहीं देगा। यह मानस उसे आत्म-नियन्त्रण की दिशा मे अग्रगामी बनाता रहेगा। किसी के लिये जितने अधिक बाहरी नियन्त्रण की आवश्यकता होती है – यह समझा जाय कि वह अभी उतना ही अधिक अविकास की स्थिति मे पडा हुआ है। जो जितना अधिक आत्म-नियत्रण की दिशा मे आगे बढता है—यह मापदड है कि वह उतना ही अधिक विवेक एव विकास की सुदृढता को प्राप्त करता है। जो आत्म-नियत्रण करना सीख जाता है वही तो सयमी कहलाता है और जो सयमी है, वह समता को अपने जीवन मे ऊँचा से ऊँचा स्थान अवश्य देगा।

आत्म-नियन्त्रण का व्यावहारिक पहलू

आत्म नियन्त्रण का व्यावहारिक अर्थ यह है कि वह धर्म की ओर गतिशील होना है, क्योंकि दशवैकालिक सूत्र मे धर्म का स्वरूप बताया है—

"धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिंसा सजमो तवो ।"

मगलमय धर्म वही है जो अहिंसा, सयम एव तप-रूप है। अहिंसा, सयम एव तप की आराधना वही कर सकता है जो निज पर नियन्त्रण रखना सीख जाता है। अहिंसा परहित पर आघात नही होने देगी, सयम स्वार्थ को कभी ऊपर नहीं उठने देगा तो तप स्वार्थ के सूक्ष्म अवशेषो को भी नष्ट कर देगा।

यह जाना जा चुका है कि विषय और कषाय का मूलत फैलाव विषमता के कारण होता है। क्योंकि जब कोई दूसरा अपने स्वार्थ से टकराता है तो क्रोध आता है, उस टकराव को मिटाने के लिये माया का सहारा लिया जाता है, जब अपना स्वार्थ जीत जाता है तो मान बढ जाता है और स्वार्थी लोभ को तो छोडता ही कहाँ है? कषायें विषय को बढाती हैं और जीवन के हर पल और पहलू मे राग और द्वेष के कुत्सित भाव को भरती हैं।

अत अपने आपको नियन्त्रित करने का अभिप्राय यही है कि अपने विकारो को—विषय एव कषाय को नियन्त्रित करो—यही आत्म नियन्त्रण का व्यावहारिक पहलू है। सम्यक्त्व धारण करने पर व्रती बना जाय और उसके बाद श्रावकत्व से साधुत्व की ऊँची सरणियो मे चढते हुए मोक्ष की मजिल तक पहुँचा जाय—गुणो के इन चौदह स्थानो का वर्णन पहले दिया जा चुका है। आत्म-नियन्त्रण का तात्पर्य गुणवृद्धि और गुणवृद्धि का तात्पर्य समतामय जीवन होना ही चाहिये। समता जब जीवन मे उतरती है तो वह चिकने विकारो का शमन भी करती है तो सम्पूर्ण जीवनधारियो के बीच समत्व की भावना की स्थिति का भी निर्माण करती है।

व्यवहार में थपेड़े आवश्यक है

थपेडो का साधारण अर्थ यहाँ कठिनाइयो से लिया जा रहा है और समता साधना के बीच जो कठिनाइयाँ आती है, वे व्यावहारिक कठिनाइयाँ

मनुष्य को ऊपर भी चढाती है, तथा नीचे भी गिरा देती है। सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन की तुलना मे सम्यक् चरित्र स्वय ही अधिक कठिन होता है और जव आचरण मे विविध प्रकार की कठिनाइयाँ स मने आती हैं एव उस आचरण की स्वस्थ प्रक्रिया को भ्रष्ट करना चाहती हैं तब जो अडिग रहता है, वह जीवन की ऊँचाइयो मे विहार करता जाता है किन्तु जो उसके सामने झुक जाता है—हार जाता है, वह अपनी सम्पूर्ण साधना को भी मिट्टी मे मिला देता है।

आग मे न तपाया जाय तो सोने की पक्की परीक्षा न हो सकेगी, उसी प्रकार एक चरित्र-साधक को यदि कठिन कठिनाइयो का सामना न करना पडे तो उसकी साधना भी कसौटी पर खरी नही उतरेगी। अत सुगठित विकास के लिये व्यवहार मे थपेडे आवश्यक है।

समता के व्यवहार पर भी यही सिद्धान्त लागू होता है। समता की दार्शनिक एव सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि समझने एव मानने के वाद जव उस पर क्रियान्वयन किया जायगा तव देश, काल के अनुसार अवश्य ही कई तरह की व्यावहारिक कठिनाइयाँ सामने आवेगी और उनका यदि सही मुकाविला हुआ तो विपमता की स्थितियाँ नष्ट होती हुई चली जायेगी। ये थपेडे वैसी अवस्था मे मनुष्य के मुख को समता की ओर सोत्साह मोड देंगे।

व्यवहार के थपेड़ो में समता की कहानी

यह एक सत्य है कि मानव-मन के मूल मे समता की प्रवल चाह रमी हुई है। वह भूलता है, गिरता है किन्तु जव भी थोडी वहुत चेतना पाता है तो हर तरह से समता लाने का प्रयत्न करने लगता है। इसी चाह का परिणाम है कि मनुष्य ने समता के क्षेत्र मे काफी सफलताएँ भी प्राप्त की हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से मानव जाति ने ऐसी-ऐसी विभूतियो को जन्म दिया है, जिन्होंने समता के प्रकाशस्तम्भ वन कर नवीन आदर्शों एव मूल्यो की स्थापना की। महापुरुपो एव मुनियो के त्यागमय जीवन चरित्र आप पढते और सुनते हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि समता की रक्षा के लिये

उन्होंने किसी भी वलिदान को कभी वडा नही समझा। सर्वस्व-त्याग उनका आदर्श विन्दु रहा।

सासारिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे भी मनुष्य ने सदा समता के लिये सघर्ष किया है। राजतत्र के कुटिल अत्याचारो से निकल कर प्रत्येक के लिये समान मताधिकार की जो उसने राजनीति के क्षेत्र मे उपलब्धि की है, वह कम नही है। यह दूसरी वात है कि अन्य क्षेत्रो मे समता कायम न कर सकने के कारण समान मताधिकार आवश्यक रूप से प्रभावशाली नही वन सका है। अव आर्थिक क्षेत्र मे भी समता के प्रयास हो रहे हैं—सम्पन्नो एव अभावग्रस्तो के वीच की खाई को जितनी तेजी से पाटा जा सकेगा दोनो के वीच समानता भी उतनी ही हार्दिकता से वढेगी। समाज के अन्य क्षेत्रो मे भी समता पाने की भूख तेजी से वढती जा रही हैं और हर आदमी के मन मे स्वाभिमान जाग रहा है, जो उसे समता कायम करने की दिशा मे सशक्त भी वना रहा है।

फिर भी ममता की दिशा मे करने को वहुत है। स्वार्थ के दुर्दान्त शत्रु को वश मे करने के लिए उचित सामाजिक नियत्रण की स्थायी व्यवस्था के लिये भी वहुत कुछ सघर्ष करना शेप है। इसके वाद भी वह नियत्रण स्वस्थक्रम से चलता हुआ आत्म-नियत्रण को अनुप्रेरित करे—इस लक्ष्य के लिए आवश्यक सघर्ष करना होगा। समता का व्यवहार-पक्ष इन्ही थपेडो के वीच अमित धैर्य एव साहस के साथ जम सकेगा, वशर्ते कि इन थपेडो मे समता का अस्तित्व ही न उखड जाय। आज यही सतर्कता सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो गई है।

क्रान्ति की आवाज उठाइये !

यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य अपने जीवन मे गिरता, वदलता और उटता रहेगा, किन्तु समूचे तौर पर मनुष्यता कभी भी समाप्त नही हो सकेगी। मनुष्यता का अस्तित्व सदा अक्षुण्ण वना रहेगा। उसका अस्तित्व मात्र ही न वना रहे, वल्कि समता के समरस स्वरो मे ढल कर मनुष्यता का आदर्श स्वरूप प्रकाशित हो—इसके लिये आज क्रान्ति की आवाज उठाने की नितान्त आवश्यकता है। क्रान्ति आज के विपमताजन्य मूल्यो के त्वरित

परिवर्तन के प्रति—ताकि समतामय समाज के नये उन्नायक मूल्यो की स्थापना की जा सके ।

क्रान्ति के प्रति कई लोगो की भ्रान्त धारणा भी होती है । कुछ लोग क्रान्ति का अर्थ रक्तपात मात्र मानते हैं । क्रान्ति का सीधा अर्थ कम ही लोग समझते है । प्रारम्भ होने वाला प्रत्येक तत्त्व या सिद्धान्त अपने समग्र शुद्ध स्वरूप मे ही आरम्भ होता है किन्तु कालक्रम मे उसके प्रति शैथिल्य का भाव आता है तब शिथिलता से उसके आचरण मे विकारो का प्रवेश भी होता है। इस विकृत-स्थिति के प्रति जो विद्रोह किया जाता है तथा फिर से उस विकार को निकाल कर शुद्ध स्थिति लाने की जो चेष्टा की जाती है—उसे ही क्रान्ति कह लीजिये । विकृत मूल्यो के स्थान पर फिर से शुद्ध मूल्यो की स्थापना हेतु जो सामूहिक सयत प्रयास किया जाता है—उसी का नामकरण क्रान्ति है ।

आज जब क्रान्ति की आवाज उठाने की बात कही जाती है तो उसका सरल अभिप्राय यही लिया जाना चाहिये कि विषमता से विकृत जो जीवन प्रणाली चल रही है, उसे मिटाकर उसके स्थान पर ऐसी समतामय जीवन प्रणाली प्रारम्भ की जाय जिससे समाज मे सहानुभूति, सहयोग एव सरलता की गगा बह चले ।

युवा वर्ग पर विशेष दायित्व

विकास के लिये परिवर्तन सामान्यरूप से सभी का दायित्व है किन्तु जहाँ परिवर्तन का नाम आता है, एक उत्साहभरी उमग एव कठिन कर्मठता का स्मरण हो आता है और यह यौवन का विशेष आभूषण होता है । सच्चा यौवन कर्मक्षेत्र मे कूद पडने से एक क्षण के लिये भी नही हिचकिचाता और बडे से बडे आत्म-समर्पण के लिये वह छटपटाता रहता है । जलने का नाम जवानी है और यह ऐसी आग है जो खुद जलती है, मगर दूसरो को रोशनी और सहायता पहुचाती है । अत जब यह कहें कि ऐसी क्रान्ति लाने का युवा वर्ग पर विशेष दायित्व है तो इस कथन का भी इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है । इस जागरण के शख को फूकना युवा एव प्रबुद्ध वर्ग का विशेष दायित्व इसी कारण से समझा जाना चाहिये ।

यह तथ्य भी विचारणीय है कि इस हेतु युवा वर्ग को—स्वय को भी बहुत कुछ बदलना होगा। उनकी वर्तमान प्रवृत्तियाँ साधारण रूप से आज उत्साहप्रद नही दिखाई देती हैं, किन्तु समय की पुकार को उसे सुनना होगा और अपने को बदलने के साथ-साथ सारे समाज को बदलने का बीडा भी उसे उठाना होगा।

समय की बाह को थाम लें

समय किसी की प्रतीक्षा नही करता। जो आगे बढकर समय की बाह को थाम लेता है, वही समय को अपने पीछे भी कर लेता है। समय मे आगे चलने वाला अर्थात् समय को अपने पीछे चलाने वाला ही युग-प्रवर्तक का पद पाता है। युग प्रवर्तक अपनी चाल मे समय को चला कर नये समतामय समाज का निर्माण करता है।

आज अपने पुरुषार्थ, विवेक एव त्याग से समय की इसी बाह को पकडना है और समता की सरसता से विषमता के घावो को धोकर समाज को नया स्वास्थ्य प्रदान करना है। इस पुरुषार्थ का यह सुखद परिणाम सामने आयगा कि मानवता फिर से स्फूर्तिवान होकर आपस मे भेंटती, पुलकती और दौडती हुई सर्वाङ्गीण विकास के लक्ष्य की ओर अग्रसर हो जायगी।

समता की अमृत-वर्षा

समता की अमृत-वर्षा से मानव-मन को तृप्त कीजिये—उसकी वाणी की सदाशय झकार जन-जन को स्नेहपूर्ण मधुरता मे झङ्कृत बना देगी और फिर मनुष्य का कर्म अपवादो की हजारो दीवारो को लाघता हुआ अपने पौरुष से ऐसे नव ससार की सृष्टि करेगा जहाँ परस्पर आत्मीयता का अनुभाव एक बाती से दूसरी बाती को जलाते हुए कोटि-कोटि दीपो के निर्मल प्रकाश मे कण-कण को प्रदीप्त कर देगा।

समता का यह समरस स्वर अपनाने, जगाने और फैलाने के लिये साहस और पुरुषार्थ के साथ आगे आइये—यहाँ अगले अध्यायो मे व्यवहार की एक सबल रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है कि बिना सम्प्रदाय, जाति, प्रदेश

अथवा अन्य किसी भेदभाव के कैसे प्रत्येक मनुष्य केवल मनुष्यता के धरातल पर खडा होकर समग्र मनुष्यता के जागरणहित अपने आपको क्रियाशील बना सकता है ?

सिद्धान्त का विकास उनके व्यवहार मे होता है, इसलिये व्यवहार की प्रक्रिया को जीवन के नये मूल्यो के साथ बांधना तथा समता के समरस स्वरो मे उसे ढालना व्यावहारिक पक्ष का प्रमुख अग है ।

: १० :

समतामय आचरण के इक्कीस सूत्र एवं तीन चरण

एक समता साधक व्यवहार के धरातल पर खडा होकर जब आचरण के विशद रूपो पर दृष्टि डालता है तो एक बार उसका चिन्ताग्रस्त हो जाना अस्वाभाविक नही होगा कि वह समता के मार्ग पर आगे बढने के लिये किन सूत्रो को पकडे और किन चरणो मे गति करें ? फैले हुए विशाल भू-मण्डल को जान लें, देख लें, किन्तु जब एक बिन्दु से उस पर चल कर एक निश्चित गन्तव्य तक पहुचने का इरादा करें तो यह जरूरी होगा कि एक निश्चित पथ का भी चयन किया जाय या कि अपनी एक पगडडी की ही रचना की जाय।

सही मार्ग को ढूढ कर चलना अथवा अपने गम्भीर ज्ञान एव कठोर पुरुषार्थ से नई पगडडी की रचना करना निश्चय ही जीवन मे एक भगीरथ कार्य होता है। आचरण के बिखरे हुए सूत्रो को समेटना एव उनकी मर्यादा मे गति करना—ये ही तो चरित्र की विशेषताएँ होती हैं। आचरण के सूत्रो के निर्धारण मे वर्तमान परिस्थितियो का पग-पग पर ध्यान रखना होगा कि वह ऐसा सशक्त हो जो व्यक्ति के निजी एव सामूहिक दोनो प्रकार के जीवनो को वाछित दिशा मे गतिशील बना सके।

विषमता से समता की ओर

यह गति स्पष्ट रूप से विषमता से समता की ओर होनी चाहिये। ज्ञान के आलोक मे जिन विषमताजन्य समस्याओ का अध्ययन किया है,

उनका समाधान समतामय आचरण से निकालना होता है। व्यक्ति मन, वाणी एव कर्म के किसी भी अश मे विषमता का अधेरा न फैलने दे तो सामाजिक जीवन मे भी विषमता अपना जमाव नही कर सकेगी। यह तभी सम्भव है जब अहिंसा एव अनेकान्त के सिद्धान्तो पर सूक्ष्म दृष्टि से आचरण किया जाय।

समता की भावना को खण्डित करने वाले मुख्यत दो प्रकार के सघर्ष होते है। पहला स्वार्थों का सघर्ष तो दूसरा विचारो का सघर्ष। मन, वचन या काया से किसी अन्य प्राणी को वल्कि उसके किसी भी प्राण को किसी प्रकार कोई क्लेश नही पहुचाना वल्कि शाति देना एव रक्षा करना—यह अहिंसा का मूल है। एक अहिंसक अपने स्वार्थ को तिलाजलि दे देगा, किन्तु किसी को तनिक भी क्लेश पहुचाना स्वीकार नही करेगा। स्वार्थों के टकराव का निरोधक अस्त्र अहिंसा है तो अनेकान्त विचारो के टकराव को रोकना है। यह सिद्धान्त प्रेरणा देता है कि प्रत्येक के विचार मे निहित सत्याश को ग्रहण करो एव पूर्ण सत्य के साक्षात्कार की उच्चतम स्थिति तक पहुँचो।

समता के इन दोनो मूलाधारो को यदि जीवन मे उतारा जाय तो विपमता तीव्र गति से मिटनी शुरु हो जायगी।

परिवर्तन का रहस्य आचरण में

विपमता से समता मे परिवर्तन अपनी-अपनी साधना शक्ति के अनुसार एक छोटी या लम्बी प्रक्रिया हो सकती है, किन्तु इस परिवर्तन का रहस्य अवश्य ही आचरण की गरिमा मे समाया हुआ रहता है। कोई भी परिवर्तन विना क्रियाशीलता के नही आता। विच्छू काटे की दवा कोई जानता है किन्तु विच्छू के काटने पर अगर वह उस दवा का प्रयोग करने की बजाय उस जानकारी पर ही घमण्ड करता रहे तो क्या विच्छू का जहर उतर जायगा ? यही विषमता का हाल होता है।

विषमता मिटाने का ज्ञान कर लिया किन्तु उस ज्ञान को आचरण मे डाले बगैर विषमता मिटेगी कैसे ? अत इस ज्ञान का नकारात्मक और स्वीकारात्मक दोनो रूपो मे प्रयोग होना चाहिये। विषमता मिटाने के नकारात्मक प्रयोग के साथ-साथ समता धारण करने का स्वीकारात्मक प्रयोग भी जब कार्यरत होगा तो परिवर्तन का पहिया तेजी से घूमने लगेगा।

समतामय आचरण के २१ सूत्र

समतामय आचरण के अनेकानेक पहलू एव रूप हो सकते हैं किन्तु सारे तत्त्वों एव परिस्थितियो को समन्वित करके उसके निचोड मे इन २१ सूत्रो की रचना इस उद्देश्य से की गई है कि आचरण के पथ पर जिन्हे पकड कर समता की गहन साधना आरम्भ की जा सकती है। इन २१ सूत्रो मे मनुष्य के अन्तर एव बाहर के भावो व कार्यों का विश्व तक के व्यापक क्षेत्र मे शान्ति एव समताभरा तालमेल बिठाने का यत्न किया गया है। यह समझना चाहिये कि यदि समुच्चय रूप से एक समता साधक इन २१ सूत्रो को आधार मानकर सक्रिय बनता है तो वह साधना के उच्चतर स्तरो पर सफलता प्राप्त कर सकता है। ये २१ सूत्र इस प्रकार हैं—

१ हिंसा का परित्याग
२. मिथ्याचरण छोडें
३ चोरी और खयानत से दूर
४ ब्रह्मचर्य का मार्ग
५. तृष्णा पर अकुश
६. चरित्र मे दाग न लगे
७ अधिकारो का सदुपयोग
८ अनासक्त-भाव
९ सत्ता और सम्पत्ति साध्य नहीं
१० सादगी और सरलता
११ स्वाध्याय और चिन्तन
१२. कुरीतियो का त्याग
१३ व्यापार सीधा और सच्चा
१४ धनधान्य का सम-वितरण
१५ नैतिकता से आध्यात्मिकता
१६ सुधार का अहिंसक प्रयोग
१७ गुण-कर्म से वर्गीकरण
१८ भावात्मक एकता
१९ जनतत्र वास्तविक बने
२० ग्राम से विश्व धर्म
२१ समता पर आधारित समाज

अव यहाँ इन २१ सूत्रो को सरल भाषा मे सक्षिप्त टिप्पणी के साथ अकित किया जा रहा है जिन्हे पाठको को अपने चिन्तन का विषय बनाना चाहिये।

सूत्र पहला : हिंसा का परित्याग

अत्यावश्यक हिंसा का परित्याग करना तथा आवश्यक हिंसा की अवस्था मे भी भावना तो व्यक्ति, परिवार, समाज व राष्ट्र आदि की रक्षा की रखना तथा विवशता से होने वाली हिंसा मे लाचारी अनुभव करना, न कि प्रसन्नता।

समता के साधक को हिंसा के स्थूलरूप का तो परित्याग कर ही देना चाहिये— इसका अभिप्राय यह होगा कि वह स्वहित के लिये तो परहित पर कोई आघात नही पहुचायगा। सन्तुलन के विन्दु से जब वह साधना आरम्भ करेगा तो स्वार्थों का सघर्ष अवश्य ही कम होगा। स्वहित की रक्षा मे यदि उसे आवश्यक हिंसा करनी भी पडे तब भी वह उस हिंसा का आचरण खेदपूर्वक ही जाने तथा स्वहितो को परहित के कारण परित्याग करने की शुभ भावना का निर्माण करे ताकि एक दिन वह पूर्ण अहिंसक व्रत अगीकार कर सके।

सूत्र दूसरा : मिथ्याचरण छोड़ें

झूठी साक्षी नही देना तथा स्त्री, पुरुष, पशु आदि के लिये भी न मिथ्या भाषण करना तथा न ही किसी रूप मे मिथ्याचरण करना।

विषमता के फैलाव मे झूठ का बहुत वडा योगदान होता है। अकेला झूठ ही सम तत्त्वो को विषमतम बना देता है। समता की लाठी सत्य होता है तो झूठ अपने हर पहलू मे विषमता की तीव्रता को बढाता है। मिथ्याचरण के परित्याग का अर्थ होता है कि विषमता के विविध रूपो से सघर्ष किया जाय तथा समता-भावना के विस्तार मे सत्याचरण से सहयोग दिया जाय।

सूत्र तीसरा चोरी और खयानत से दूर

ताला तोडकर, चावी लगा कर या सेंध लगाकर वस्तु नही चुराना। दूसरो की अमानत मे खयानत नही करना तथा चोरी के सभी उपायो से दूर रहना।

वर्तमान युग मे अचौर्य व्रत को गभीरता से लिया जाना चाहिये। समता साधक चोरी के सभी प्रकार के स्थूल उपायो से दूर रहे किन्तु उसके साथ ही अमानत मे खयानत की विशेषता को भी समझे। इसका सम्बन्ध श्रम-शोषण से है। एक मजदूर एक मालिक की मिल मे मजदूरी करता है तो वहाँ वह जो अपना श्रम नियोजित करता है—एक तरह से वह श्रम याने उसका उत्पादक मूल्य उस मजदूर के मालिक को अमानत रूप मे मिलता है। अब यदि मालिक मजदूर के १०) रु० प्रतिदिन के मूल्य की एवज मे उसे ५) रु० की ही दानगी देता है तो यह इस नजरिये से अमानत मे खयानत ही कहलायगा। आज की जटिल आर्थिक व्यवस्था मे समता साधक को चोरी के कई टेढे-मेढे तरीको से बचना होगा।

सूत्र चौथा ब्रह्मचर्य का मार्ग

परस्त्री का त्याग करना एव स्वस्त्री के साथ भी अधिकाधिक ब्रह्मचर्य व्रत का अनुपालन करना तथा वासनाओ पर न सिर्फ कायिक बल्कि वाचिक व मानसिक विजय की ओर आगे बढना।

दुराचरण से दूर हटकर समता-साधक को अपने सदाचरण से आसपास के वातावरण मे चारित्र्य शुद्धता की एक नई हवा बनानी चाहिये। ब्रह्मचर्य सयम को बल देगा तथा सयम से समता का मार्ग प्रशस्त होगा।

सूत्र पाँचवाँ · तृष्णा पर अकुश

स्वय की सामर्थ्य के अतिरिक्त सभी दिशाओ मे लेन-देन आदि समस्त व्यापारो का त्याग करना।

मनुष्य के स्वार्थ और तृष्णा पर अकुश लगाना बहुत महत्त्वपूर्ण है। अपनी आवश्यकता के अनुसार तथा अपने श्रम से व्यक्ति यदि अर्जित करता

है तो वह अनावश्यक संग्रह के चक्कर में नही पडता है। उसका स्वार्थ जब इतनी सीमा से बाहर नही निकलता तो वह घातक भी नहीं बनता है। अत समता-साधक के व्यापार या धन्धे का फैलाव इतना सीमित हो जो उसके सामर्थ्य मे हो तथा जितने की उसे मूल मे आवश्यकता हो।

सूत्र छठा : चरित्र मे दाग न लगे

स्वय के, परिवार के, समाज के एव राष्ट्र आदि के चरित्र मे दाग लगे, वैसा कोई भी कार्य नही करना।

व्यक्ति यदि स्वार्थ को सीमा मे रखकर चल सके तो वह ऐसे कार्यों की उलझन मे नही फसेगा जो स्वय, परिवार समाज अथवा राष्ट्र के चारित्र्य पर किसी भी रूप मे कलंक कालिमा पोते। एक समता साधक को अपने आचरण की सीमाएँ इस तरह रखनी होगी कि जहाँ समस्त प्राणियो के हित की बात हो, वहाँ निम्न वर्ग के हितो से ऊपर उठकर व्यापक हित मे प्रयास रत हो। परिवार हित के लिये वह स्वय के हित का बलिदान करे तो इसी तरह समाज के लिये परिवार के, राष्ट्र के लिये समाज के तो मानव जाति के हितो के लिये राष्ट्रिय हितो का बलिदान करने को भी वह तैयार रहे। अपने-अपने स्तर पर चरित्र-रक्षा का यही क्रम होना चाहिये। किसी भी स्तर पर चरित्र सम्बन्धी कलक लगाने वाली हरकतो से तो समता साधक को बचना ही होगा।

सूत्र सातवाँ : अधिकारों का सदुपयोग

प्राप्त-अधिकारो का दुरुपयोग नही करना तथा उनका व्यापक जन-कल्याणार्थ सर्वत्र सदुपयोग करना।

समाज या राष्ट्र मे अपनी योग्यता, प्रतिष्ठा आदि के बल पर कई व्यक्ति छोटे या बडे पदो पर पहुंचते हैं जहाँ उनके हाथ मे तदनुसार अधिकारो का वर्चस्व आता है। समता-साधक का कर्त्तव्य होगा कि वह ऐसी स्थिति मे उन प्राप्त अधिकारो का कतई दुरुपयोग न करे। यहा दुरुपयोग या सदुपयोग का अर्थ भी समझ लेना चाहिये। जो प्राप्त सार्वजनिक अधिकारो का अपने या अपने लोगो के स्वार्थों की पूर्ति हेतु उपयोग करता है—वह

उनका दुरुपयोग कहलायगा। उन्ही अधिकारो के सदुपयोग का अर्थ होगा कि उनका उपयोग सर्वत्र व्यापक जन-कल्याण मे किया जाय।

सूत्र आठवाँ : अनासक्त-भाव

सत्ता या अधिकार प्राप्ति के समय उनके अन्धाधुन्ध प्रयोग की अपेक्षा तज्जन्य कर्त्तव्य-पालन के प्रति विशेष जागरूक रहना तथा प्राप्त सत्ता मे आसक्त-भाव नही आने देना।

समता साधक के लिये यह आवश्यक है कि वह सम्पत्ति की ही तरह सत्ता मे भी मूर्छा भाव याने ममत्व दृष्टि पैदा न करे। जहाँ यह ममत्व हुआ, वहाँ सत्ता का दुरुपयोग अनिवार्य है। किन्तु यदि अनासक्त भाव से सत्ता का प्रयोग किया जाय तो मनुष्य को पागल वना देनेवाली सत्ता को भी समाज-राष्ट्र की सच्ची सेवा का शुद्ध साधन वनाया जा सकेगा।

सूत्र नवाँ · सत्ता और सम्पत्ति साध्य नहीं

सत्ता और सम्पत्ति को मानव-सेवा का साधन मानना, न कि व्यक्ति जीवन का साध्य।

सत्ता और सम्पत्ति की शक्तियाँ समता-साधक के हाथो मे मानव-सेवा की साधनरूप वनी रहनी चाहिये किन्तु जहाँ व्यक्ति ने सत्ता और सम्पत्ति को अपने जीवन के साध्य रूप मे धार लिया और तदनुसार आचरण आरम्भ कर दिया तो समझ लीजिये कि उसने अपने आपको विषमता के नरककुण्ड मे पटक दिया है। सत्ता और सम्पत्ति यदि व्यक्ति के जीवन मे साध्य नही रहे तथा सामाजिक सेवा के साधन रुप वन जाए तो समाज मे इनके स्वस्थ वितरण की समस्या का भी सरल समाधान निकल आयगा। समता साधक को ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करने की दिशा मे आगे वढना होगा।

सूत्र दसवाँ सादगी और सरलता

सादगी, सरलता एव विनम्रता मे विश्वास रखना तथा नये सामाजिक मूल्यो की रचना मे सक्रिय वने रहना।

क्रान्ति न हठ है, न दुराग्रह है और न रक्तपात है। नये सामाजिक मूल्यो की रचना का नाम क्रान्ति है जिसका क्रम सदा चलता रहना चाहिये ताकि मूल्यो मे विकारो का प्रवेश ही न हो सके। किन्तु समता-साधक जब क्रान्ति का बीडा उठाता है तो उसमे सादगी, सरलता एव विनम्रता की मात्रा भी बढ जाती है। जितनी अधिक साधना, उतनी ही अधिक सरलता। अधिक सम्पन्नता, अधिक सादगी और अधिक विशिष्ट विकास तो अधिक विनम्रता—यह समता साधक का धर्म होना चाहिये।

सूत्र ग्यारहवा : स्वाध्याय और चिन्तन

चरित्र निर्माण की धारा मे चलते हुए धार्मिक एव नैतिक शिक्षण पर बल देना तथा प्रतिदिन एक निर्धारित समय मे स्वाध्याय एव चिन्तन-मनन का क्रम नियमित बनाये रखना।

मनुष्य हर समय किसी न किसी कार्य मे प्रवृत्ति बना रहता ही है, किन्तु उसे यह देखने की फुरसत नही होती कि उसकी प्रवृत्ति उचित है अथवा अनुचित—अपनी ही स्वार्थ वासना को लिये हुए है अथवा व्यापक जन-कल्याण कामना को लिये हुए। इसकी जाच परख तभी हो सकती है जब स्वस्थ एव नैतिक सस्कार-निर्माण के साथ स्वाध्याय का नित-प्रति क्रम बने। स्वाध्याय के प्रकाश मे अपने नित-प्रति के कार्यों की एक कसौटी तैयार होगी और उसके बाद जब चिन्तन-मनन का नियमित क्रम बनेगा तो फिर समूचे कार्यों की गति उन्नायक दिशा की ओर ही मुढ जायगी।

सूत्र बारहवॉ : कुरीतियो का त्याग

सामाजिक कुरीतियो का त्याग करना तथा उनमे भी दहेज प्रथा को सख्ती से समाप्त करना।

जिस समाज मे रूढ परम्पराओ एव कुरीतियो का निर्वाह होता है, वह कभी भी जागृत समाज नही कहला सकता। कुरीतियो पर अन्धे बनकर चलते रहने से सद्‌गुणो एव श्रेष्ठ वर्ग का ह्रास होता जाना है। वर्तमान समाज मे जिस कदर कुरीतियाँ चल रही हैं, वे मानवता विरोधी

बन गई है। दहेज प्रथा को ही लें तो यह कितनी निकृष्ट है कि लडके वेचे जाते हैं और उस पर गरूर किया जाता है। एक समता साधक को स्वय को तो ऐसी सारी कुरीतियो से मुक्ति लेनी ही होगी वल्कि उनको नष्ट करने के लिये उसे समाज के क्षेत्र मे कडा सघर्ष भी छेडना होगा। समतामय स्थिति का निर्माण इस तथ्य पर निर्भर करेगा कि कितनी मजबूती से और कितनी जल्दी समाज को ऐसी कुरीतियो से मुक्त करके वहाँ मानवता प्रसारिणी रीतियो का शुभारम्भ किया जाता है?

सूत्र तेरहवाँ व्यापार सीधा और सच्चा

वस्तु मे मिलावट करके, कम ज्यादा तोल या माप कर अथवा किसी भी अन्य प्रकार से धोखेपूर्वक नही वेचना तथा मायावी व्यापार से दूर रहना।

आज जिसे उलझा हुआ आर्थिक जाल कहा जाता है और अर्थ शोषण से राजनीति-दोहन तक का जो चक्र चलता है, उसे कुटिल व्यापार प्रणाली की ही तो देन समझना चाहिये। व्यापार सीधा और सच्चा रहे तव तक तो वह समाज की सेवा का साधक वना रहेगा, किन्तु ज्यो ही उसे लोभ के दृष्टिकोण पर आधारित कर लिया जायगा तो वही भ्रष्टाचार एव अत्याचार का कारण वन जायगा। वर्तमान विश्व मे आर्थिक साम्राज्यवाद का जो जटिल नागपाश दिखाई देता है, वह शुरु व्यापार की मिलावट, धोखाधडी और झूठवाजी से ही होता है अत समता-साधक का व्यापार सीधा और सच्चा वने—यह जरूरी है।

सूत्र चौदहवाँ धन-धान्य का समवितरण

व्यक्ति, समाज व राष्ट्र आदि की जिम्मेदारी के आवश्यक अनुपात के अतिरिक्त धन-धान्य पर निजी अधिकार नही रखना। अपने पास भी उचित आवश्यकता से अधिक धन-धान्य हो तो उसे ट्रस्ट रूप मे करके यथावश्यक सम्यक् वितरण मे लगा देना।

जो मन से लेकर मनुष्य के कर्म तक विषमता का विप फैलाता है वहाँ परिग्रह और उससे भी ऊपर परिग्रह की लालसा होती है। इस कारण समता साधक को परिग्रह के ममत्व से दूर रहना होगा। एक ओर वह आवश्यकता से अधिक धन-धान्य एव अन्य पदार्थों का सग्रह न करे तो दूसरी

और सम्पत्ति आदि भोग्य पदार्थों की न्यूनतम मर्यादाएँ भी ग्रहण करे। धन-धान्य आदि पदार्थों के सम-वितरण की समाज मे जितनी सशक्त परिपाटी जितनी जल्दी कायम की जा सकेगी, उतनी ही श्रेष्ठता के साथ समता का भावनात्मक एव क्रियात्मक प्रसार सम्भव हो सकेगा।

सूत्र पन्द्रहवाँ नैतिकता से आध्यात्मिकता

नैतिक धरातल की पुष्टता के साथ सुघड आध्यात्मिक जीवन के निर्माणार्थ तदनुरूप सद्प्रवृत्तियों का अनुपालन करना।

समता साधक गृहस्थ धर्म मे रहकर पहले नैतिक धरातल को पुष्ट बनावे और उस पुष्टि के साथ आध्यात्मिक क्षेत्र मे प्रवेश करे ताकि वहाँ पर प्राभाविक रूप से नया वातावरण बना सके। यदि अपनी अर्जन प्रणाली, दिनचर्या या व्यवहार परिपाटी मे नैतिकता नही समाई तो भला वहा आध्यात्मिकता का विकास कैसे किया जा सकेगा ?

सूत्र सोलहवाँ सुधार का अहिंसक प्रयोग

सयम की उत्तम मर्यादाओ एव किसी भी प्रकार के अनुशासन को भग करने वाले लोगो को अहिंसक असहयोग के उपाय से सुधारना, किन्तु द्वेष की भावना न लाना।

समता साधक अहिंसा को ऐसे सशक्त अस्त्र के रूप मे तैयार करे एव प्रयोग मे लावे कि द्वेष तथा प्रतिशोध रहित होकर सर्वत्र सुधार के कार्यक्रम चलाये जा सकें। गाधी जी कहा करते थे कि वे भारत मे अग्रेजी राज के विरुद्ध हैं, अग्रेजो के विरुद्ध नही और इसे वे अहिंसा की भावना बताते थे। वह भावना सही थी। "घृणा पाप से हो—पापी से कभी नही लवलेश"—यह अहिंसा की सीख होती है। व्यक्ति से कैसी घृणा—उससे द्वेष क्यो ? अहिंसात्मक असहयोग के जरिये व्यक्ति क्या—समूह का सुधार भी सम्भव हो सकता है।

सूत्र सत्तरहवाँ गुण-कर्म से वर्गीकरण

मानव जाति मे गुण एव कर्म के अनुसार वर्गीकरण मे विश्वास रखते हुए किसी भी व्यक्ति से घृणा या द्वेष नही रखना।

किसी जाति या घर मे जन्म ले लेने मात्र से ही कोई उच्च वर्ण का कहलाए तो कोई शूद्र—इसे मानवीय व्यवस्था नही कहा जा सकता । जाति प्रथा एक रूढ प्रथा है । मानव समाज मे जब समता के आदर्श को लेकर चलना है तो समाज का वर्गीकरण रूढ प्रथाओ को आधार बनाकर नही किया जा सकता । व्यक्ति के अर्जित गुणो एव कार्यों की ऊँच-नीचता की नीव पर जो वर्गीकरण खडा किया जायगा, वही वास्तव मे मानवीय समता को एक ओर पुष्ट करेगा तो दूसरी ओर सद्गुणो एव सत्कर्मों को प्रेरित भी करेगा । समता-साधक की इस कारण मानव-जाति मे गुण एव कर्म के वर्गीकरण किये जाने मे न सिर्फ दृढ आस्था ही होनी चाहिये, बल्कि ऐसे वर्गीकरण के लिये उसके समस्त प्रयास नियोजित होने चाहिये । ऐसे वर्गीकरण मे व्यक्ति व्यक्ति के साथ घृणा करे या द्वेष रखे—इसकी गुंजायश ही कम हो जायगी ।

सूत्र अठारहवाँ भावात्मक एकता

सम्पूर्ण मानव जाति की एकता के आदर्श को समक्ष रखते हुए समाज एव राष्ट्र की भावात्मक एकता को बल देना तथा ऐसी एकता के लिये उत्कृष्ट चरित्र का निर्माण करना ।

एकता का अर्थ शक्ति होता है । मन, वचन एव कर्म की एकता हो तो मनुष्य की मनुष्यता सशक्त बन जाती है । उसी तरह समाज और राष्ट्र मे व्यक्तियो की परस्पर एकता की अनुभूति सजग बन जाय तो वह सम्पन्न एव चारित्र्यशील समाज व राष्ट्र का निर्माण करती है ।

यह एकता केवल बाह्य रूपो मे ही नही अटक जानी चाहिये बल्कि अनुभावो की एकता के रूप मे विकसित होनी चाहिये । समता-साधक को अपने अन्तर मे हो या समाज-राष्ट्र के अन्तर मे—भावात्मक एकता स्थापित करने के प्रयास करने चाहिये । क्योकि भावात्मक एकता चिरस्थायी एव शान्ति-प्रदायक होती है तथा समता को पुष्ट बनाती है ।

सूत्र उन्नीसवाँ जनतन्त्र वास्तविक बने

राज्य की जनतन्त्रीय प्रणाली का दुरुपयोग नही करना तथा जनशक्ति के उत्थान के साथ इसे वास्तविक एव सार्थक बनाना ।

जनतन्त्र केवल एक राज्य प्रणाली नही है, अपितु एक जीवन-प्रणाली है। जीवन की मूल आवश्यकताओ की उपलब्धि के साथ प्रत्येक नागरिक विभिन्न स्वतन्त्रताओ का सयत उपभोग कर सके तथा अपने जीवन विकास की स्वस्थ दिशाओ को खोज सके—यह जनतन्त्रीय प्रणाली की विशेषता है। किन्तु सम्पन्न वर्ग अपने स्वार्थों के कारण ऐसी सर्वहितकारी प्रणाली का भी दुरुपयोग करने लग जाता है एव उसे भ्रष्ट तथा विकृत बना देता है। तो समता-साधक का कर्तव्य माना जाना चाहिये कि वह समाज मे ऐसी प्रवृत्तियो का विरोध करे तथा उन्हे दूर करे जो जनतन्त्र का दुरुपयोग करने की कुचेष्टाएँ करती है।

सूत्र बीसवाँ : ग्राम से विश्वधर्म

प्रत्येक समता साधक ग्रामधर्म, नगरधर्म, समाजधर्म, राष्ट्रधर्म, एव विश्वधर्म की सुव्यवस्था के प्रति सतर्क रहे, तदन्तर्गत अपने कर्त्तव्यो को निवाहे तथा तत्सम्बन्धी नैतिक नियमो का पालन करे। इन धर्मों के सुचारु सचालन मे कोई दुर्व्यवस्था पैदा नही करे तथा दुर्व्यवस्था पैदा करने या फैलाने वालो का किसी भी रूप मे कोई सहयोग नही करे।

यहाँ धर्म से कर्त्तव्य का बोध लिया जाना चाहिये। ग्राम, नगर, राष्ट्र, विश्व आदि के प्रत्येक मनुष्य के अपनी-अपनी परिस्थितियो के अनुसार विभिन्न कर्त्तव्य होते है और उसकी सामाजिकता के अनुभाव की सार्थकता यही होगी कि वह इन सभी विभिन्न समूहो के हितो के साथ अपने हितो का सुन्दर तालमेल बिठावे तथा जब भी आवश्यकता पडे—वह स्वहित की यथास्थान बलि देकर भी सामूहिक हितो की रक्षा करे। इन सभी कर्त्तव्यो का आधारगत सार यही होगा।

सूत्र इक्कीसवाँ : समता पर आधारित समाज

समता के दार्शनिक एव व्यावहारिक पहलुओ के आधार पर नये समाज की रचना एव व्यवस्था मे विश्वास रखना।

जहाँ कही साध्य या उद्देश्य की बात हो, वहाँ पूर्ण सतर्कता आवश्यक है। साध्य यह है कि जिस नये समाज की कल्पना है, उसका आधार पूर्णतया

समता पर आधारित होना चाहिये। एक समता-साधक का इस दृष्टि मे पूरा विश्वास भी होना चाहिये तथा पूरा पुरुषार्थ भी कि वह विषमताओ को हटाने के काम को अपना पहला काम समझे तथा प्रत्येक व्यक्ति, सगठन या समूह को स्वस्थ समता का आधार प्रदान करे।

इस प्रकार ये २१ सूत्र समता-साधक को समूचे रूप में एक दिशा निर्देश देते हैं कि वह अपने जीवन को व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन की समता हेतु समर्पित कर दे।

आचरण की आराधना के तीन चरण

साधुत्व से पूर्व स्थिति मे समता-साधक की साधना के तीन चरणो या सोपानो का इस हेतु निर्धारण किया जा रहा है जिससे स्वय साधक को प्रतीति हो तथा समाज मे उसकी पहिचान हो कि समता की साधना मे वह किस स्तर पर चल रहा है ? इस प्रतीति और पहिचान से साधक के मन मे उन्नति की आकाक्षा तीव्र बनी रहेगी।

उपरोक्त तीन चरण निम्न हैं—

१ समतावादी।
२ समताधारी।
३ समतादर्शी।

समतावादी की पहली श्रेणी

पहली एव प्रारम्भिक श्रेणी उन समता—साधको की हो, जो समता दर्शन मे गहरी आस्था, नया खोजने की जिज्ञासा एव अपनी परिस्थितियो की सुविधा से समता के व्यवहार मे सचेष्ट होने की इच्छा रखते हो। पहली श्रेणीवालो को वादी इस कारण कहा है कि वे समता के दर्शन एव व्यवहार पक्षो का सर्वत्र समर्थन करते हो एव सबके समक्ष २१ सूत्रो एव ३ चरणो की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हो। स्वय भी आचरण की दिशा मे आगे बढने के सकल्प की तैयारी कर रहे हो और किन्ही अशो मे आचरण का श्रीगणेश

कर चुके हो। ऐसे साधको का नाम समतावादी रखा जाय, जिनके लिये निम्न प्रारम्भिक नियम आचरणीय हो सकते हैं—

(१) विश्व मे रहने वाले समस्त प्राणियो मे समता की मूल स्थिति को स्वीकार करना एव गुण तथा कर्म के अनुसार ही उनका वर्गीकरण मानना। अन्य सभी विभेदो को अस्वीकार करना और गुण-कर्म के विकास से व्यापक समतापूर्ण स्थिति बनाने का सकल्प लेना।

(२) समस्त प्राणीवर्ग का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकारना तथा अन्य प्राणो के कष्ट क्लेश को स्व-कष्ट मानना।

(३) पद को महत्त्व देने के स्थान पर सदा कर्तव्यो को महत्त्व देने की प्रतिज्ञा करना।

(४) सप्त कुव्यसनो को धीरे-धीरे ही सही पर त्यागते रहने की दिशा मे आगे बढना।

(५) प्रात काल सूर्योदय से पूर्व कम से कम एक घण्टा नियमित रूप से समता-दर्शन के स्वाध्याय, चिन्तन एव समालोचना मे व्यतीत करना।

(६) कदापि आत्मघात न करने एव यथाशक्ति प्राणी मात्र की रक्षा करने का सकल्प लेना।

(७) सामाजिक कुरीतियो को त्याग कर विषमताजन्य वातावरण को मिटाना तथा समतामयी नई परम्पराएँ डालना।

सक्रिय सो समताधारी

समता के दार्शनिक एव व्यावहारिक धरातल पर जो दृढ चरणो से चलना शुरू कर दें, उन्हे समताधारी की दूसरी उच्चतर श्रेणी मे लिया जाय। समताधारी दर्शन के चारो सोपानो को हृदयगम करके २१ सूत्रो पर व्यवहार करने मे सक्रिय बन जाता है। एक प्रकार से समतामय आचरण की सर्वाङ्गीणता एव सम्पूर्णता की ओर जब साधक गति करने लगे तो उसे समताधारी कहा जाय।

समताधारी निम्न अग्रगामी नियमो का अनुपालन करे—

(१) विषमताजन्य अपने विचारो, सस्कारो एव आचारो को समझना तथा विवेकपूर्वक उन्हे दूर करना। अपने आचरण से किसी को भी क्लेश न पहुचाना व सबमे सहानुभूति रखना।

(२) द्रव्य-सम्पत्ति तथा सत्ता-प्रधान व्यवस्था के स्थान पर समतापूर्ण चेतना एव कर्त्तव्यनिष्ठा को मुख्यता देना।

(३) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एव अनेकान्तवाद के स्थूल नियमो का पालन करना, उनकी मर्यादाओ मे उच्चता प्राप्त करना एव भावना की सूक्ष्मता तक पैठने का विचारपूर्वक प्रयास करते रहना।

(४) समस्त जीवनोपयोगी पदार्थो के समवितरण मे आस्था रखना तथा व्यक्तिगत रूप से इन पदार्थों का यथाविकास, यथायोग्य जन-कल्याणार्थं अपने पास से परित्याग करना।

(५) परिवार की सदस्यता से लेकर ग्राम, नगर, राष्ट्र एव विश्व की सदस्यता को निष्ठापूर्वक आत्मीय दृष्टि एव सहयोगपूर्ण आचरण से अपने उत्तरदायित्वो के साथ निभाना।

(६) जीवन मे जिस किसी पद पर या कार्यक्षेत्र मे रत हो उसमे भ्रष्टाचरण से मुक्त होकर समताभरी नैतिकता एव प्रामाणिकता के साथ कुशलता से कार्य करना।

(७) स्व-जीवन मे सयम को तो सामाजिक जीवन मे सर्वदा नियम को प्राथमिकता देना एव सानुशासन बनना।

साधक की सर्वोच्च सीढी—समतादर्शी

समतादर्शी की श्रेणी मे साधक का प्रवेश तब माना जाय जब वह समता के लिये बोलने और धारने से आगे बढ कर ससार को समतापूर्ण बनाने व देखने की दृष्टि और कृति प्राप्त करता है। तब वह साधक व्यक्ति के व्यक्तित्व से ऊपर उठकर एक समाज और सस्था का रूप ले लेता है क्योंकि

तव उसका लक्ष्य परिवर्तित निजत्व को व्यापक परिवर्तन मे ममाहित कर लेना वन जाता है। ऐसा साधक साधुत्व के सन्निकट पहु च जाता है, जहां वह अपने स्वहित को भी परहित मे विलीन कर देता है एव सारे ममाज मे सर्वत्र समता लाने के लिये जूझने लग जाता है। वह समता का वाहन वनने की बजाय तव समता का वाहक वन जाता है।

समतादर्शी निम्न उच्चस्थ नियमो को अपने जीवन मे रमाले—

(१) समस्त प्राणिवर्ग को निजात्मा के तुल्य समझना व आचरना तथा समग्र आत्मीय शक्तियो के विकास मे अपने जीवन के विकास को देखना। अपनी विषमताभरी दुष्प्रवृत्तियो का त्याग करके आदर्श की स्थापना करना एव सवमे समतापूर्ण प्रवृत्तियो के विकास को वल देना।

(२) आत्मविश्वास की मात्रा को इतनी सशक्त वना लेना कि विश्वासघात न अन्य प्राणियो के साथ और न स्वयं के साथ जाने या अनजाने भी सभव हो।

(३) जीवन क्रम के चौवीसो घटो मे समतामय भावना एव आचरण का विवेकपूर्ण अभ्यास एव आलोचन करना।

(४) प्रत्येक प्राणी के प्रति सौहार्द्र, सहानुभूति एव महयोग रखते हुए दूसरो के सुख-दु ख को अपना सुख-दु ख समझना—आत्मवद् सर्वभूतेषु का अनुशीलन करना।

(५) सामाजिक न्याय का लक्ष्य ध्यान मे रखकर चाहे राजनीति के क्षेत्र मे हो अथवा आर्थिक या अन्य क्षेत्र मे आत्मवल के आधार पर अन्याय की शक्तियो से सघर्ष करना तथा समता के समस्त अवरोधो पर विजय प्राप्त करना।

(६) चेतन व जड तत्त्वो के विभेद को समझ कर जड पर से ममता हटाना, जड की सर्वत्र प्रधानता हटाने मे योग देना तथा चेतन को स्वधर्मी मान उसकी विकासपूर्ण समता मे अपने जीवन को नियोजित कर देना।

(७) अपने जीवन मे और बाहर के वातावरण मे राग और द्वेष दोनो को सयमित करते हुए सर्व प्राणियो मे समदर्शिता का अविचल भाव ग्रहण करना, वरण करना तथा अपनी चिन्तन धारा मे उसे स्थायित्व देना। समदर्शिता को जीवन का सार बना लेना।

साधुत्व तक पहुँचाने वाली ये तीन श्रेणियाँ

इन तीन श्रेणियो मे यदि एक समता-साधक अपना समुचित विकास करता जाय तथा समदर्शी श्रेणी मे अपनी हार्दिकता एव कर्मठता को रमा ले तो उसके लिये यह कहा जा सकता है कि वह साधक भावना की दृष्टि से साधुत्व के सन्निकट पहुच गया है। तीसरी श्रेणी को गृहस्थ-धर्म का सर्वोच्च विकास माना जायगा।

ये जो तीनो श्रेणियों के नियम बताये गये हैं, उनके अनुरूप एक से दूसरी व दूसरी से तीसरी श्रेणी मे अग्रसर होने की दृष्टि से प्रत्येक साधक को अपना आचरण विचार एव विवेकपूर्ण पृष्ठभूमि के साथ सन्तुलित एव सयमित करते रहना चाहिये ताकि समता व्यक्ति के मन मे और समाज के, जीवन मे चिरस्थायी रूप ग्रहण कर सके। यही आत्म-कल्याण एव विश्व-विकास का प्रेरक पाथेय है।

समता-साधना के इस क्रम को व्यवस्थित एव अनुप्रेरक स्वरूप प्रदान करने के उद्देश्य से एक समता-समाज की स्थापना की जाय, उसकी सदस्यता हो, सदस्यो के विकास का सम्पूर्ण लेखा-जोखा रखा जाय एव अन्य प्रवृत्तियाँ चलाई जाय—इसके लिये आगामी अध्याय मे एक रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

: ११ :

समता समाज की संक्षिप्त रूपरेखा

माँ की ममता का कोई मुकाबिला नही, किन्तु बच्चे को उस ममता का अहसास तभी होता है, जब माँ स्नेहपूर्वक बच्चे को स्तन-पान कराती है और मधुर दूध से बच्चे की क्षुधा मिटाती है। किसी भी तत्त्व की आन्तरिकता ही मूल मे महत्त्वपूर्ण होती है किन्तु उसे अधिक प्राभाविक एव अधिक बोधगम्य बनाने हेतु उसके बाह्य स्वरूप की भी रचना करनी होती है। अपनी गभीर आन्तरिकता को लेकर जब बाह्य स्वरूप प्रकट होता है तो वह प्रेरणा का प्रतीक भी बन जाता है।

अन्तर मे जो कुछ श्रेष्ठ है, वह गूढ हो जाता है, किन्तु जब तक उसे सहज रूप मे बाहर प्रकट नही करें, उसकी विशेषताओ का व्यापक रूप से प्रसार नही हो सकता है। समता-दर्शन के सम्बन्ध मे भी यह कहा जा सकता है कि यदि इसके भी बाह्य प्रतीक निर्मित्त किये जांय तो इसके प्रचार-प्रसार मे सुविधा होगी। समता-दर्शन का कोई अध्ययन करे तथा उसके व्यवहार पर भी कोई सक्रिय हो किन्तु यदि ऐसे साधको को एक सूत्र मे आवद्ध रहने हेतु किसी सगठन की रचना की जाय तो साधको को यह सुविधा होगी कि वे परस्पर के सम्पर्क से अपनी साधना को अधिक सुगठित एवं सुचारु बना सकेंगे और साधारण रूप से सगठित साधको का

सुप्रभाव समूचे समाज पर इस रूप मे पडेगा कि लोग इस दिशा मे अधिकाधिक आकर्षित होने लगेंगे ।

एक प्रकार से समता के दर्शन एवं व्यवहार पक्षो का मूर्त रूप ऐसा समता-समाज होना चाहिये जो समता मार्ग पर सुस्थिर गति से अग्रसर हो और उस आदर्श की ओर सारे ससार को प्रभावित करे ।

समता-समाज क्यो ?

सारे मानव समाज को यदि भिन्न-भिन्न भागो मे विभाजित करें तो विविध विचारधाराओ, मान्यताओ एव सम्बन्धो पर आधारित कई वर्ग निकल आयेंगे, बल्कि सारे मानव समाज को एकरूप मे विभिन्न समाजो का एक समाज ही कहा जा सकता है। तो ऐसे विभिन्न समाजो मे 'समता समाज' के नाम से एक और समाज की वृद्धि क्यो ?

मानव समाज इतना विशाल समाज है कि एक ही बार मे एक मानव उसे समग्र रूप मे आन्दोलित करना चाहे तो एक कठिनतम कार्य होगा । कार्य एक साथ नही साधा जाता, क्रमबद्धरूप से ही आगे बढते हुए उसे साधना सरल एव सुविधाजनक होता है। सारे ससार मे याने कि सभी विभिन्न क्षेत्रो मे समतामय जीवन की प्रणाली की स्थापना एक साथ सरल नही हो सकती । अपने नवीन परिप्रेक्ष्य मे समता के विचार-बिन्दु को हृदयगम कराना तथा उसके आचरण को जीवन मे उतारना एक क्रमबद्ध कार्यक्रम ही हो सकता है । समता समाज इस क्रमबद्ध कार्यक्रम को सफल बनाते हुए समता के निरन्तर विस्तार का ही एक सगठन कहा जा सकता है । सगठन की शक्ति उसके सदस्यो पर आधारित होती है तथा समता-समाज भी कितना शक्तिशाली बन सकेगा—यह इसके साधक सदस्यो पर निर्भर करेगा ।

"समता-समाज" के नाम से कायम होने वाला यह सगठन एक जीवन्त सगठन होना चाहिये जो बिना किसी भेद-भाव के मानवीय

धारणाओं को लेकर मानवता के धरातल पर मानवीय समता की उपलब्धि हेतु कार्य करे एवं विभिन्न क्षेत्रों में विषमतानरे वातावरण को हटा कर समतामय परिस्थितियों के निर्माण में योग दे।

"समता समाज" का कार्यक्षेत्र

समता-समाज का कार्यक्षेत्र किसी भौगोलिक सीमा में आबद्ध नहीं होगा। जहाँ-जहाँ विषमता है और जहाँ-जहाँ समता के साधक खड़े होते जायेंगे, वहाँ-वहाँ समता-समाज के कार्यक्षेत्र खुलते जायेंगे। प्रारम्भ में किसी भी एक बिन्दु से इस समाज का कार्यारम्भ किया जा सकता है और फिर उस केन्द्र से ऐसा यत्न किया जाय कि देश में चारों ओर इस समाज के सदस्य बनाये जाए जो निष्ठापूर्वक चार सोपानों, इक्कीस सूत्रों एवं तीन चरणों में आस्था रखें तथा व्यावहारिक रूप से अपने जीवन में समता-तत्त्व को यथाशक्ति समाहित करें। यदि प्रारम्भिक प्रयास सफल बनें तथा देश में समता-समाज का स्वागत हो और समता समाज के सदस्य चाहे तो कोई कठिन नहीं कि इस अभियान को विदेशों में भी लोकप्रिय बनाया जाय। समाज के उद्देश्य तो वैसे ही सबको छूने एवं सबमें समाने वाले हैं।

समाज के उन्नायक उद्देश्य

जो अब तक विश्लेषण किया गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति एवं समाज के आन्तरिक एवं बाह्य जीवनों में समता रम जाय एवं चिरस्थायी रूप ग्रहण कर ले—यह समता समाज को अभीष्ट है। कहा नहीं जा सकता कि इस अभियान को सफल होने में कितना समय लग जाय, किन्तु कोई भी अभियान कभी भी सफलता तभी प्राप्त कर सकेगा, जब उसके उद्देश्य स्पष्ट हो एवं उनमें व्यापक जन-कल्याण की भावना झलकती हो।

समाज के उन्नायक उद्देश्यो को सक्षेप मे निम्न रूप से गिनाया जा सकता है—

(१) व्यक्तिगत रूप से समता साधक को समतावादी, समताधारी एव समतादर्शी की श्रेणियो मे साधनारत बनाते हुए अपने व्यक्तित्व को विकेन्द्रित करने की ओर अग्रसर बनाना।

(२) मन की विषमता से लेकर विश्व के विभिन्न क्षेत्रो की विषमताओ से सघर्ष करना एव सर्वत्र समता की भावना का प्रसार करना।

(३) व्यक्ति और समाज के हितो मे ऐसे तालमेल बिठाना जिससे दोनो समतामय स्थिति लाने मे पूरक शक्तियाँ बनें—समाज व्यक्ति को धरातल दे तो व्यक्ति उस पर समता सदन का निर्माण करे।

(४) स्वार्थ, परिग्रह की ममता एव वितृष्णा को सर्वत्र घटाने का अभियान छेड़कर स्वार्थों एव विचारो के टकराव को रोकना तथा सामाजिक न्याय एव सत्य को सर्वोपरि रखना।

(५) स्थान-स्थान पर समता-साधको को सगठित करके समाज की शाखा-उपशाखाओ की स्थापना करना, साधारण जन को समता का महत्त्व समझाने हेतु विविध सयत प्रवृत्तियो का सचालन करना एव सम्पूर्ण समतामय परिवर्तन के लिये सचेष्ट रहना।

समता-समाज किनका ?

किसी देश-प्रदेश, जाति-सम्प्रदाय, वर्ण-वर्ग या दल विशेष का यह समाज नही होगा। प्रारम्भ मे समाज का आकार छोटा हो सकता है किन्तु इसका प्रकार कभी छोटा नही होगा। जो अपने आपको सीधे और सच्चे रूप मे मनुष्य नाम से जानता है और मनुष्यता के सर्वोपरि विकास मे रुचि रखता है, वह इस समाज का सदस्य बन सकता है। समता-समाज सम्पूर्ण मानव जाति का समाज होगा और इसकी सदस्यता का मूल आधार गुण और कर्म होगा क्योकि इसकी साधना-श्रेणियो का निर्माण भी गुण एव कर्म के आधार से ही बनाया गया है।

दूसरे शब्दों में यों कहें कि समता-समाज उन लोगों का संगठन होगा जो समता के उद्देश्यों में विश्वास रखते होंगे, इनके २१ सूत्र तथा ३ चरणों को अपनाने के लिये आतुर होंगे एवं अपने प्रत्येक आचरण में समता के आदर्श की झलक दिखायेंगे। समाज अपने सदस्यों की कर्मठता का केन्द्र होगा तो अन्य सभी के लिये प्रेरणा का स्रोत भी, क्योंकि अन्ततोगत्वा तो समाज का लक्ष्य राजनैतिक, आर्थिक एवं अन्य सभी क्षेत्रों में मानवीय समता स्थापित करके आध्यात्मिक क्षेत्र में समता के महान आदर्श को प्रकाशवान बनाना है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि समता समाज २१ सूत्रों के पालक एवं ३ चरणों में साधनारत साधकों का संगठन होगा जो गृहस्थ धर्म में रहते हुए भी उज्ज्वल नक्षत्रों के रूप में संसार के विविध क्षेत्रों में समता के सुखद सन्देश को न केवल फैलायेंगे बल्कि उसे कार्यान्वित कराने के काम में सर्वदा एवं सर्वत्र निरत रहेंगे।

समाज की सदस्यता कैसे मिले ?

समता-समाज की संयोजक स्थापना के बाद सदस्यता का अभियान आरम्भ किया जाय, किन्तु यह अभियान सस्ता और संख्यामूलक नहीं होना चाहिये। कुछ निष्ठावान् संस्थापक लोग साधारण रूप से समाज के उद्देश्यों को समझावें, भावनात्मक दृष्टि से सदस्यता चाहने वाले की जांच-परख करें तथा उसकी संकल्प-शक्ति को जानकर उसे सदस्यता प्रदान करें। विवेक, विश्वास और विराग सदस्यता के आधार-बिन्दु बनने चाहिये।

सदस्यता-प्राप्ति का एक आवेदन-पत्र तैयार किया जाय, जिसमें समता क्षेत्र में कार्य करने की उसकी वर्तमान आकांक्षा एवं भविष्य के संकल्पों का स्पष्ट अंकन हो। वह अपनी आकांक्षा एवं संकल्पों का प्रकटीकरण समता के दार्शनिक एवं व्यावहारिक पक्षों की जानकारी के अनुसार ही करेगा। उसे यह भी संकेत देना होगा कि समता के क्षेत्र में

अपनी निजी साधना के सिवाय सार्वजनिक साधना मे कितना समय, श्रम अथवा अन्य प्रकार से सहयोग देगा ?

समाज की सदस्यता का आवेदन-पत्र इस प्रारूप के अनुसार हो सकता है।

मैं .. .. (नाम) ....
(पिता का नाम) . . .. (निवासी) .. . ..
(वर्तमान निवास यदि हो) . .. . (आयु) . ...
(व्यवसाय) . . (वर्तमान जाति, गोत्र जिसका भविष्य मे समता-समाज की कार्यवाही मे व्यवहार नही किया जायगा)

समता-समाज की सदस्यता प्राप्त करने हेतु आवेदन कर रहा हू।

मैंने समता-समाज के उद्देश्यो, सूत्रो, चरणो एव नियमो तथा साधना-श्रेणियो की पूरी जानकारी करली है। मे अभी निम्न सूत्रो के अनुपालन मे रत हूँ/इच्छुक हूँ—

१ . ...
२ . . .
३ .. .. आदि।

अत मुझे . श्रेणी मे प्रवेश दिया जाय। मैं अपनी अनुपालना की नियमित रिपोर्ट केन्द्र को भेजता रहूगा एव समाज द्वारा निर्देशित अभियानो मे सक्रिय भाग लू गा।

मैं वर्तमान मे अपनी ओर से समाज को . घण्टे प्रतिदिन/ . . ... दिन वार्षिक, . . . अन्य . ... सेवा समर्पित करता हूँ।

समता समाज के सदस्य बनाने सम्बन्धी निर्णय एव अन्य निर्देशो से सूचित करें।

दिनाक . .. .

(हस्ताक्षर)

ऐसे आवेदन-पत्र की तथ्यात्मक रूप से जाच की जाय, स्थानीय प्रतिष्ठित व्यक्तियो से एव स्वय आवेदक से विशेष चर्चा की जाय तथा साधक की निष्ठा से प्रभावित होकर उसे समाज की सदस्यता प्रदान की जाय। केन्द्र एव स्थानीय शाखाओ का यह कार्य होगा कि वे अपने प्रत्येक सदस्य के कार्य-कलापो तथा साधना की क्रमोन्नति का पूरा लेखा-जोखा रखे, उसका समय-समय पर विचार-विमर्श करें ताकि वह अन्य आकांक्षियो के लिये प्रेरणा का कारण वन सके।

समाज का सुगठित संचालन

समाज के सुगठित सचालन हेतु दिये गये सूत्रो, उद्देश्यो आदि के अनुसार एक विधान वनाया जाना चाहिये, जिसके अन्तर्गत विविध कार्य-कलापो, पदाधिकारियो के चयन एव कार्य-निर्वहन आदि की सुचारु व्यवस्था हो। समाज के केन्द्र-स्थान से शाखाओ-उपशाखाओ के खोलने व चलाने पर पूरा नियन्त्रण हो तथा नीचे से सुझाव आमन्त्रित करके समाज के विभिन्न कार्यक्रम एव योजनाएँ निर्धारित करने का क्रम वने। सदस्यो, पदाधिकारियो, समितियो एव शाखाओ का ऐसा तालमेल विठाया जाय कि समाज का सचालन सभी प्रकार से सुगठित वन सके।

सुगठित सचालन एव कार्यक्रमो को सार्थक दिशा देने की दृष्टि से एक परामर्शदातृ मण्डल का निर्माण भी किया जा सकता है, जिसमे समता-व्यवस्था मे आस्था रखने वाले उच्च कोटि के साधको को सम्मिलित किया जाय। इसमे सन्त-मुनियो का सहयोग भी प्राप्त किया जा सकता है। यह मण्डल नीति-निर्धारण एव दिशा-निर्देशन के रूप मे ही कार्य करे।

गृहस्थ इस समाज के आदि सचालक

समता-समाज के निर्माण एव सचालन का प्रधान कार्य गृहस्थो के अधीन ही रहे, क्योकि समता के प्रसार का मुख्य कार्य-क्षेत्र भी तो मूल

रूप मे सासारिक क्षेत्र ही होगा। सासारिक जीवन की विषमताओ से ही समाज को पहला मोर्चा साधना होगा, जहाँ यदि समाज को सफलता मिलती है एव व्यक्तियो के नैतिक चरित्र को वह उत्थानगामी बना सकता है तो उसका कार्यक्षेत्र तदनन्तर आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी बढ सकता है और वैसी स्थिति मे सचालन की व्यवस्था मे भी परिवर्तन हो सकता है। किन्तु वर्तमान मे समाज के सचालन का पूरा भार गृहस्थो पर रहे तथा ज्यो-ज्यो साधक सदस्यो की सख्या बढती जाय, उनकी इच्छा के अनुसार ही निर्वाचन या चयन से समाज के पदाधिकारी प्रतिष्ठित हो। पदाधिकारियो मे विशेष निष्ठा का सद्‌भाव आवश्यक समझा जाय।

समाज की सक्रिय सदस्यता के नाते जो गृहस्थ आगे आवेंगे, आशा की जाय कि उनमे मे भावी साधुओ की दीक्षा हो सके। समदर्शी की तीसरी श्रेणी मे यदि साधक अपने मन और कर्म से निरत हो जाता है तो वास्तव मे साधुत्व उससे फिर अधिक दूर नही रहेगा। स्वहित की आरम्भिक सज्ञा के ढलान के सम्बन्ध मे जो कहा गया था कि वह उपयुक्त वातावरण पर निर्भर करता है तो समता-साधक और साधु मे यह अन्तर रहेगा कि समता-साधक स्वहित और परहित के सन्तुलन मे सध जायगा, जहाँ कि साधु साधुत्व मे रहता हुआ परहित हेतु स्वहित को भी विसर्जित कर देता है। यह समाज एक प्रकार से गृहस्थो का प्रशिक्षण केन्द्र हो जायगा, जहाँ वे सकुचित स्वार्थों से ऊपर उठकर व्यापक जन-कल्याणार्थ काम करने का अपना मानस एव पुरुषार्थ बना सकेंगे।

समाज के प्रति साधुओ का रुख

समाज की प्रवृत्तियो के दो पक्ष होंगे। पहला पक्ष सिद्धान्तो, नीतियो एव सयत कार्य-प्रणालियो से सम्बन्धित होगा तो दूसरा पक्ष सचालन-विधि, वित्त एव हिसाब-किताब से सम्बन्धित होगा। दूसरे पक्ष का पूरा-पूरा सम्बन्ध गृहस्थो से रहेगा, साधुओ को उधर देखने की भी आवश्यकता नही।

किन्तु जहाँ तक पहले पक्ष का सम्बन्ध है, यह गृहस्थो से भी अधिक साधुओ की जिम्मेदारी मानी जानी चाहिये कि वे समाज के इस मूलाधार पक्ष को कही भी समता-दर्शन की मर्यादाओ से बाहर न भटकने दें। सिद्धान्त और नीति सम्बन्धी निर्देशन तो उन्ही को देना है तथा अपने उपदेशो से वे लोगो को इन समता-सिद्धान्तो तथा नीतियो के प्रति प्रभावित करें—यह सर्वथा समीचीन होगा। साधु वर्ग अपनी निजी मर्यादाओ का निर्वहन करते हुए इस समाज को अपना अधिकाधिक योग दें तो उससे समाज की कार्य-दिशा भी स्वस्थ रहेगी तो दूसरी ओर समाज की आम लोगो मे प्रभावपूर्ण प्रतिष्ठा भी बनेगी।

समाज के विस्तार की योजना

एक बार अपने निर्माण के बाद समाज एक स्वस्थ सगठन के रूप मे कार्य करने लगे और उसमे प्राप्त सफलताओ के आधार पर इसके विस्तार की आवश्यकता अनुभव हो तब किसी प्रकार की अन्धरूढता से काम नही लिया जाना चाहिये। समाज का विधान भी पर्याप्त लचीला होना चाहिये ताकि विस्तार की प्रत्येक योग्य सम्भावना का उसमे समावेश किया जा सके।

जब भी समाज के विस्तार की योजना बनाई जाय तो वह अनुभवी साधको तथा निर्देशक साधुओ की यथायोग्य सम्मति के आधार पर ही बने ताकि उसका विस्तार कही विषमता की घाटियो मे भटक न जाय। समता की साधना का भाव समाज के किसी भी कार्यक्रम, अभियान और विस्तार मे भी ओझल नही होना चाहिये।

समाज दीपक का कार्य करे

जहाँ-जहाँ समाज की शाखाएँ-उपशाखाएँ कायम हो, वे उन क्षेत्रो मे दीपक का कार्य करें। अपने समता आदर्श का न सिर्फ उन्हें पालन

करना होगा वल्कि अपने आदर्श पालन से समूचे वातावरण मे उन्हे ऐसा प्रभाव भी फैलाना होगा कि लोगो की सहज श्रद्धा समाज के प्रति जागृत हो।

दीपक एक ओर स्वय प्रकाश फैलाता है तो साथ ही अपनी प्रकाशमान वाती को अगर दूसरे बुझे हुए दीपक की वाती को छू दे तो वह भी प्रकाशमान वन जाता है। यही कार्य समता-साधको को करना है। अपने ज्ञान और आचरण का प्रकाश तो वे फैलावें ही, किन्तु अपनी विनम्रता एव मृदुता से वे उन सुपुप्त आत्माओ को जगावें तो विवशता-पूर्वक विपमता मे पडी हुई कराह रही है और जिन्हे किसी उद्धारक की हार्दिक सहानुभूति की अपेक्षा है। समता के क्षेत्र मे यह सवसे वडी सेवा होगी कि शोपित, पीडित एव दलित वर्गों को उठाने और जगाने का काम पहले हाथ मे लिया जाय।

वाती से वाती छुआकर दीपको की पात जलाने की उपमा इस मानवीय अभियान से की जा सकती है। गिरे हुए और पिछड़े हुए वर्गों के स्वाभिमान को एक वार जगा दिया और उनमे समता की आकांक्षा भर दी जाय तो वे समता के श्रेष्ठ साधको के रूप मे सामने आ सकते हैं। इस तरह दीपको की पक्तियाँ सव ओर प्रज्जवलित कर दी गई तो भला फिर समता की दीपावली जगमग क्यो नही करने लग जायगी ?

यह एकनिष्ठ प्रयास कैसा ?

समता-समाज के सगठन के रूप मे यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि यह एकनिष्ठ प्रयास कैसा है और क्यो किया जा रहा है ?

घडी के अन्दर के पुर्जे आप लोगो मे से वहुतसो ने देखे होगे। एक दरातेदार पहिये मे दूसरा दरातेदार पहिया इस तरह जुडा हुआ होता है कि वे आपस मे हिल-मिल कर चलते ही नही हैं वल्कि खुद चलकर एक दूसरे को चलाते भी हैं। उनका चलना और चलाना आपस के मेल पर टिका रहता है। कल्पना करें कि एक पहिये की दाते दूसरे पहिये के

दातो के पास रिक्त स्थानो मे फिट होने के बजाय दातो से दाते टकरा बैठें तो क्या उन पहियो का चलना-चलाना चालू रह सकेगा ?

घडी के निर्माता कारीगर का एकनिष्ठ प्रयास यह रहता है कि वह पुर्जों को इस कुशलता से फिट करे कि कभी कोई दाता दूसरे दाते से टकरावे नही। उसकी कुशलता का प्रमाण ही यह मानना चाहिये।

इसी तरह समाज के सचालको का एकनिष्ठ प्रयास यही होना चाहिये कि सारा सगठन आपस मे हिलमिल कर अपने मूल उद्देश्यो की पूर्ति मे लगा रहे। स्वय सगठन अपने भीतर अथवा वाहर कही भी टकराव का प्रदर्शन न वने। जहाँ ऐसी टकरावटें पैदा होती है तो मूल लक्ष्य विस्मृत होने लगता है और वैसी अवस्था मे सगठन फिर निष्प्राण ही हो जाता है।

मूल लक्ष्य को पग-पग पर याद रखें

समता समाज के मूल लक्ष्य को यदि कुछ शब्दो मे ही कहना है तो वह इन दो शब्द-समूहो मे व्यक्त किया जा सकता है—

१ समता की दिशा मे व्यक्ति का विकास
२ समाज (मानव समाज) का सुधार।

व्यक्ति और समाज के निरन्तर टकराते रहने का अर्थ है विपमता, और जब इन दोनो का तालमेल स्वस्थ रीति से वैठेगा तो दोनो के उत्थान के साथ समता का स्थायी विकास होगा। मुख्यत व्यक्ति और समाज मे सघर्ष होता है। व्यक्ति के अपने स्वार्थों से एव अपने ही लिये सव कुछ पाने एव सचित कर लेने की उद्दाम लालसाओ से। समाज के शक्तिशाली वर्ग जव स्वार्थ मे डूब जाते हैं तो वे सामाजिक हितो को ठुकरा देते हैं। चन्द लोग सत्ता और सम्पत्ति का समूचा वर्चस्व थामकर बहुसख्यक लोगो को अभावो की खाइयो मे छटपटाने के लिये छोड देते हैं। तव सम्पन्न वर्ग अपने अधिकारो की मदमत्तता मे तो अभावग्रस्त वर्ग अपनी दीनता की विवशता मे विषमता के दल-दल मे फस जाता है और इस तरह सारे

समाज मे विपमता की पूजा होने लगती है। जितनी वाहर की विपमता वढती है, भीतर की कटुता भी जागती है जो मनुष्य को भीतर-वाहर से विपमता का पुतला वना देती है।

विपमता के इस कुचक्र से समता-साधक को सदा सतर्क वना रहना होगा और अपने इस सगठन को भी उमसे वचाना होगा। यह तभी हो सकता है जव ममता-समाज के मूल लक्ष्यो को पग-पग पर याद रखा जाय।

व्यक्ति का विकास और समाज का सुधार

समता समाज वैसा सगठन होना चाहिये जो अपनी दृष्टि मे इन दोनो लक्ष्यो को सदा समान महत्त्व दे और इनके लिये समान रूप से कार्य का विवेक रहे। व्यक्ति और समाज अपनी प्रगति मे परस्पर इतने घनिष्ठ रूप से सम्वन्धित होते हैं कि यदि कही एक पक्ष की उपेक्षा की तो दूसरा पक्ष उमसे प्रभावित हुए विना नही रहेगा। व्यक्ति के विकास को अधिक महत्त्व दिया और उमके सामाजिक पहलू की उपेक्षा की तो यह हो मकता है कि कुछ व्यक्ति विकास की चोटी पर पहुच जाय किन्तु सामान्य जन नैतिकता के सामान्य धरातल मे भी नीचे गिरने लगेंगे और उमका माधारण प्रभाव लम्वी दूर मे यह होगा कि व्यक्तियो के उच्चतम विकास का मार्ग भी अवरुद्ध होने लगेगा।

दूसरी ओर यदि सामाजिक सुधार एव प्रगति को ही सम्पूर्ण महत्त्व दे डाला तो व्यक्ति की स्वाधीनताएँ पिसने लगेंगी और उस वातावरण मे मशीनें पैदा की जा सकेंगी किन्तु स्वतन्त्रचेता व्यक्तियो का अभाव हो जायगा, जिमका दीर्घकालीन प्रभाव यह होगा कि समाज के सचालन मे अधिनायक-वादी असर पैदा हो जायगा।

अत व्यक्ति के विकास एव समाज के सुधार सम्वन्धी कार्यक्रमो मे स्वस्थ सन्तुलन वनाये रखना—यह समता-समाज का कौशल होना चाहिए। न व्यक्ति की स्वाधीनता को आच आवे और न कुछ व्यक्ति

इतने सशक्त वन जावें कि वे वहुसख्यक जनता के अधिकारो को कुचलने की हिमाकत कर सके। दोनो विन्दुओ मे ऐसा सन्तुलन रहे कि व्यक्ति सामाजिक हित-रक्षा मे प्रवृत्त हो तो समाज भी प्रत्येक व्यक्ति के प्रति समान सहयोग मे जागरुक वना रहे। यह सन्तुलन समाज के सारे सदस्यो की सतर्क दृष्टि एव स्वस्थ निष्ठा पर निर्भर करेगा जिसका मानस समता-साधना की श्रेणियो मे उन्हे वनाना होगा।

समता समाज अलग समाज न वने

अधिकाशत ऐसा होता है कि कुछ विचारक एव कार्यकर्ता मिलकर सार्वजनिक हित के लिये कोई सगठन खडा करते हैं और कालान्तर मे उसके कार्य विस्तार मे ऐसी स्थिति वन जाती है कि मानव समाज के विविध सगठनो मे वह भी एक सगठन मात्र वन कर अलग-थलग रह जाता है। वैसी स्थिति मे उस सगठन की सार्वजनिक उपयोगिता समाप्त हो जाती है। होना यह चाहिये कि जो सगठन व्यापक जन-कल्याण के लिये निर्मित होता है, उसे अपने अलग अस्तित्व की हठ से ऊपर उठ कर हर स्तर पर सामान्य जनता मे अधिक से अधिक सम्मिलित होने का प्रयास करना चाहिये। अपने नियमित विस्तार के प्रति यह दृष्टिकोण वना रहे तो वैसा सगठन लोकप्रिय होकर धीरे-धीरे समूची जनता का सगठन वन जाता है।

समता समाज का प्रारम्भ भी इसी विस्तृत दृष्टिकोण के साथ होना चाहिये क्योकि उसका उद्देश्य समूची मानव जाति मे समता स्थापित करना है अत. उसका आधार भी समूची मानव जाति ही रहेगी। आरम्भ छोटे क्षेत्र से हो किन्तु भावी विस्तार व्यापक दिशा मे होना चाहिये एव प्रत्येक समता-साधक "मित्ती मे सव्व भूएसु, वैर मज्झ न केणई" के आदर्श के साथ समाज मे कार्यरत वने। भावना एव कर्म मे समाज के प्रत्येक सदस्य का जव ऐसा दृष्टिकोण हर समय वना रहेगा तो उसका स्पष्ट परिणाम यह होगा कि सगठन हर कदम पर व्यापक

जनहितो से जुडा रहेगा तथा अधिक से अधिक जन समुदाय का समर्थन समता समाज को मिलता रहेगा । ऐसी अवस्था मे समता समाज अन्ततोगत्वा एक अलग-थलग सगठन वनकर नही रहेगा वल्कि अपनी गहरी जडो से मानव जाति के मध्य विस्तृत रूप से पल्लवित एव पुष्पित होता रहेगा ।

गहरी आस्था एव अमित उत्साह की माग

किसी भी सगठन का जीवन उसके सदस्यो की गहरी आस्था एव अमित उत्साह पर टिका रहता है और यही किसी भी सगठन की आशातीत प्रगति का रहस्य होता है । अत समता समाज के निर्माण के समय सगठनो और सचालको को इस दृढ निश्चय के साथ कार्यारभ करना चाहिये कि समाज की सदैव गहरी आस्था एव अमित उत्साह की माग वनी रहेगी और उसकी पूर्ति हेतु सदस्यो को सर्वदा सजग एव कार्यरत रहना पडेगा । पूरी स्फूर्ति और उमग से जो सगठन शुरू किये जाते व चलाये जाते है, उन्हे सभी ओर मे आशीर्वाद, मगल कामनाएँ एव सहज सहयोग प्राप्त होता ही रहता है । समता समाज भी एक जीवन्त सगठन बने और समता के आदर्श पर सोत्साह चलता रहे तो उसमे सद्भावनाओ एव सहयोग का अभाव नही रहेगा ।

•

: १२ :

समता-समाज की सफलता के लिये सन्नद्ध हो जाइये !

"कार्यं वा साधयामि देहं वा पातयामि"—"कुछ करो या मरो"—सफल जीवन के लिये यह एक सचेतक नारा है। मानव जीवन को दुर्लभ जीवन बताया गया है और जो जितना दुर्लभ होगा, निश्चय ही उसे बहुमूल्य भी मानना पडेगा। अब कोई अपने हाथ मे पकडे हुए हीरे को काच के टुकडे के मानिन्द दूर फेंक दे या पत्थर से कूट कर चूर-चूर बनादे तो क्या वह व्यक्ति बुद्धिमान् कहा जा सकेगा? यह मानव जीवन हीरा है—हीरे की तरह प्रकाश और शोभा फैलाने के लिये है और इसे अगर यो ही अधेरे मे भटका-भटका कर निष्क्रियता की खाई मे डूबो दिया जाय तो यह मूर्खता और महान् हानि दोनो होगी।

जीवन इस कारण कुछ कर गुजरने के लिये है। कर गुजरना वह जो अपने स्वार्थ के लिये नही बल्कि ऐसे महान् उद्देश्य के लिये जो निज-पर दोनो की प्रगति को शानदार तरीके से पूरा करने वाला हो। कर गुजरना ऐसे काम को जो साहस, सयम और श्रेष्ठता का प्रतीक माना जाय। ऐसे कामो मे समता-समाज की स्थापना को ऊँचे क्रम पर लिया जा सकता है। स्वय सम बनना और सारे समाज को सम बनाने की दिशा मे सचेष्ट बनाना—इससे बढकर श्रेष्ठ काम और क्या हो सकता है और ऐसे ही काम के सम्बन्ध मे यह नारा होता है कि कुछ करो या

मरो—अर्थात् जीवन की सार्थकता इसी मे है कि ऐसे श्रेष्ठ काम को जितना अपने से बने—कर गुजरो वरना जीवन जीवन नही, उसे मृत्यु का ही एक वहाना मानकर चलो।

समता समाज एक आन्दोलन है

आन्दोलन उसे कहते हैं जो नये विचारो से किसी को इस तरह हिला दे कि उसमे एक नई स्फूर्ति एव जागृति उत्पन्न हो जाय। इस समता समाज की स्थापना के कार्यक्रम को भी एक ऐसे आन्दोलन का रूप दीजिये कि यह आज के रूढ एव विपम समाज को जड से हिला दे, जागृति की ऐसी लहर वहा दे कि सारे लोग विपमता की स्थितियो को मिटा डालने के लिये अपनी कमर कस लें और निश्चय कर लें कि वे सारे समाज को सुखदायिनी समता के रग मे रग कर ही चैन लेंगे।

समता-समाज को आन्दोलन इसलिये मानें कि इसके द्वारा सम्पन्नो और अभावग्रस्तो, शोपको और शोपितो, पीडको और पीडितो तथा उच्चस्थो और दलितो – सवकी आखे इस तरह खोली जाय कि जो अपने वर्तमान स्वरूपो मे मानवता की कुसेवा कर रहे हैं, विषमता के नागपाश मे वधे हुए हैं वे सव समता-समाज के आन्दोलन को मन, वचन और कर्म से अपनावें तथा समता के सुख का सच्चा अनुभव लें।

समता समाज के सगठको एव सचालको को प्रारम्भ से ही इस कार्यक्रम को एक आन्दोलन के रूप मे ही जानना एव मानना चाहिये। कोई भी आन्दोलन तभी चलता और सवल वनता है जव उसे शुरू करने वाले कार्यकर्ता स्वय जीवट वाले हो तथा सर्वस्व समर्पण करके भी साध्य को सम्पन्न वनाने का सकल्प लेकर चलने वाले हो। समता-समाज की स्थापना का काम कोई छोटा या उपेक्षणीय काम नही है, जीवन को लगाने और खपाने का काम है। जैसे तपी हुई रेत पर वर्षा की कुछ वूदें गिरती है तो वे पहले विलीन ही हो जाती हैं। फिर जव लगातार वूदें गिरती रहती हैं तव कही जाकर उस रेत की तपन मिटती है और

उसमे गीलापन आता है । तो सभी रचनात्मक कार्यक्रमो मे पहली बूंदो से आत्मसमर्पण किए विना कार्यक्रम की सफलता की स्थिति नही वनती है। यह समता-समाज भी अपनी सफलता के लिये कई कार्य-कर्त्ताओ के आत्मार्पण की माग करेगा और वह अगर अपने अमित उत्साह एव उमग के वल पर पूरी नही की गई तो समता-समाज की सफलता भी कठिन है और समता की सर्वत्र स्थापना भी कठिन । इसलिये इसे एक कर्मठ आह्वान समझिये और समता-समाज की सफलता के लिये सन्नद्ध हो जाइये ।

जहाँ विषमता दीखे, जुट जाइये !

अपनी आखो और कानो को निरन्तर खुला रखिये, मन को सारे अवरोधो से मुक्त वना कर चलिये और फिर देखने का प्रयत्न कीजिये कि कहाँ-कहाँ विपमता किन-किन रूपो मे जल रही है, जला रही है और फैल रही है ? तव आपकी सुघड दृष्टि में विपमता के जो घिनौने रूप दिखाई देंगे, वे स्वय आपके कर्म को जगा डालेंगे । विपमता के मानवता सहारक रूपो को देखकर आप स्वय सन्नद्ध हो जायेंगे और किसी भी मूल्य पर समता की स्थापना हेतु कटिवद्ध वन जायेंगे ।

ऐसी सजग दृष्टि एकागी नही होगी । आप वाहर ही नही देखेगे वल्कि वार-वार अपने भीतर भी झाकेंगे और सभी जगह विपमता के कार्य-कलापो को परखेंगे । यही परख आपको भी कसौटी पर कसेगी और समाज की भी पहिचान करेगी । इस दृष्टि मे जहाँ-जहाँ जितने अशो मे या जिस किसी रूप मे विपमता दिखाई दे, वहाँ-वहाँ आप जी जान से जुट जाइये कि वहाँ विपमता को नष्ट करके ही आप आगे वढेंगे । एक ही विन्दु पर चाहे समूचा जीवन समाप्त हो जाय किन्तु कर्मण्यता को हार नहीं खानी होगी । यदि ऐसी स्फूर्ति रही तो ऊँचा से ऊँचा परिणाम भी असम्भव नही रहेगा । जीवन के अन्तर-वाह्य मे

समता के पूर्णत समावेश को ससार की कोई शक्ति प्रतिबाधित नही कर सकेगी ।

विषमता से सघर्ष मन को हर्ष

सधी हुई दृष्टि और कसे हुए काम के साथ ज्यो-ज्यो विषमता से सघर्ष मे गतिशील बना जायगा, त्यो-त्यो निश्चित जानिये कि अन्तर्मन का हर्ष भी प्रगाढ होता रहेगा। निष्क्रिय मन ऐसे हर्ष को नही जानता किन्तु जो सद्विवेक के एक उद्देश्य को लेकर सक्रिय बनता है और अपने पुरुषार्थ से सफलता का सेहरा बाधता है, उस मन के हर्ष की किसी अन्य आनन्द के साथ तुलना करना कठिन है । जब विजयश्री किसी योद्धा के मस्तक को चूमती है, तब उसका हर्ष अद्भुत और अनुपम ही होता है ।

आपके सामने पग-पग पर विषमताओ के ज ले बुने हुए हैं, जिनमे उलझ-उलझ कर अपने कई साथियो को ही गिरते हुए आप नही देखते, बल्कि जानते-अजानते खुद भी उनमे उलझ-उलझ कर गिरते रहते हैं। इन्ही जालो को काटते जाना जीवन का उद्देश्य बन जाना चाहिये। यही समता की साधना का मार्ग है, क्योकि जहां जहां से अधेरा मिटेगा, वहाँ-वहाँ प्रकाश का फैलते जाना अनिवार्य है । विषमताओ को काटने का अर्थ ही यह होगा कि वहाँ-वहाँ आत्मीय समता का प्रसार सुगम होता जायगा ।

समता-समाज के साधको को अपने जीवन क्रम मे इसी उद्देश्य को सर्वोपरि रखना होगा। वे एक क्षण के लिये भी न भूलें कि वे अपने मन, वचन या कार्य से किसी भी रूप मे विषमता पैदा करने वाले न बनें—उन्हें तो स्वय सम बन कर प्रत्येक स्थान से विषमता को नष्ट करनी है और समता की सम दृष्टि पनपानी है। विषमता से सघर्ष—उनकी भावना, वाणी और कृति का शृगार बन जाना चाहिये ।

व्यक्ति और समाज का समन्वित स्वर

यह आन्दोलन—यह सघर्ष व्यक्ति और समाज के समन्वित स्वर से उठना और चलना चाहिये। व्यक्ति समाज की ओर दौडे तथा सारा समाज एक-एक व्यक्ति को गले लगावे—तब ऐसे सहज समन्वय का स्वर मुखर हो सकेगा। व्यक्ति और समाज इस आन्दोलन के साथ एक दूसरे की प्रगति के अनुपूरक बनते रहेंगे और समता की ऊँचाइयो पर चढते रहेगे। व्यक्ति व्यक्ति से समाज बनता है और समाज व्यक्ति से अलग नही, फिर भी दोनो शक्तिया जब एक दूसरे की सहायक होकर चलेगी तभी अन्दर-वाहर की सच्ची समता भी प्रकट होकर रहेगी। जितनी विपमता है, वह व्यक्ति के स्वार्थ के गर्भ से जन्म लेती है और जितने अशो मे स्वस्थ रीति से इस स्वार्थ का सफल समाजीकरण कर दिया जाय उतने ही अशो मे विषमता की मात्रा घटेगी और व्यक्ति एव समाज का समन्वय वढेगा—यह स्वाभाविक प्रक्रिया है।

समता समाज इस लक्ष्य की ओर अग्रसर बने कि व्यक्ति के सत्ता और सम्पत्ति के स्वार्थों पर अधिक से अधिक स्वैच्छिक नियन्त्रण किया जाय जो भावनात्मक हो एव जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ सामाजिक नियन्त्रण प्रणाली द्वारा व्यक्ति के स्वार्थ के भूत को फैलने न दिया जाय। अपने ही सदस्यो के माध्यम से यदि समता-समाज इस लक्ष्य को पकड सका तो यह सन्देहरहित भविष्यवाणी की जा सकती है कि समता-समाज की सर्वोच्च उन्नति होकर रहेगी।

क्रान्ति का चक्र और कल्याण

कल्पना करें कि किसी भी टिकट-खिडकी के वाहर अगर लोग पूरे अव्यवस्थित रूप से टिकट लेने के लिये टूट पडें तो भला कितने और कौन लोग टिकट ले पायेंगे? वे ही तो जो शरीर से, वल से या किसी तरह ताकतवर होंगे—कमजोर तो वेचारा भीड मे पिस ही जायगा।

आज के विषम समाज की ऐसी अव्यवस्था से तुलना की जा सकती है जहा सत्ता और सम्पत्ति को लूटने की मारामारी मची हुई है। जो न्याय मे नही, नीति से नही वल्कि अन्याय और अनीति से लूटी जा रही है। इस दुर्व्यवस्था मे दुर्जन आगे वढकर लूट का सरदार वन जाता है तो हजारो मज्जन नीनि और न्याय के पुजारी होकर भी विवश खडे देखते रह जाते हैं।

टिकिट खिडकी के वाहर ऊपर उचकने वालो को समझा-बुझा कर उनकी वाहे पकड कर एक 'क्यू' मे खडा कर देने का जो प्रयास है, उसी को समाज के क्षेत्र मे क्रान्ति का नाम दे दिया जाता है। सारी भीड उमडे नही, अपनी-अपनी वारी मे हरएक को टिकिट मिल जाय यह ऐनी शान्तिपूर्ण व्यवस्था का ही फल हो मकता है। मानव समाज मे अपराध मिटें, विपमता कटे और सभी मानव न्याय और नीति का फल प्राप्त करें—यही क्रान्ति का उद्देश्य हो सकता है।

क्रान्ति का चक्र यदि योजनावद्ध रीति से घुमाया जाय तो निस्सन्देह वह विपमता को काटेगा तो समता की रक्षा भी करेगा। इस चक्र को जन-कल्याण का चक्र कहा जा सकता है। समता-समाज का यही आभास होना चाहिये कि वह अपनी सशक्त गति से क्रान्ति के चक्र को पूरे वेग से घुमावे ताकि नये ममाज की नई धारणाएँ और परम्पराएँ जन्म लें तथा उन्हें निर्वहन करने-कराने वाली नई पीढी का निर्माण किया जा सके।

मूल्य वदलें और मूल्य वनें

मानव समाज के विभिन्न सगठनो का सचालन किन्ही सिद्धान्तो के आधार पर होता है तथा ये ही सिद्धान्त जव कार्यान्वियन मे आते हैं तो इनसे जिन परम्पराओ का निर्माण होता है, उन्हे ही सामाजिक मूल्यो के रूप मे देखा जाता है। ये मूल्य समाज के पथ-प्रदर्शक होते हैं और इनके निर्माण मे महान् पुरुषो का दिशा निर्देशन भी होता है। ये

मूल्य जब तक विकारग्रस्त नही होते, इनके आधार पर चलने वाले व्यक्तियो के जीवन एक निश्चित लक्ष्य की ओर ही बढते है और वह दिशा सामाजिक उत्थान की दिशा होती है।

किन्तु काल-प्रवाह मे एक बार बने ऐसे मूल्य जब विकारग्रस्त होकर जडता ग्रहण करने लगते हैं और जब उनमे प्रेरणा की शक्ति मूछित होने लगती है तब उन मूल्यो को बदल डालने की एक महती आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी ऐसी विडम्बना भी होती है कि विकृत मूल्यो को नष्ट करने का क्रम तो चल पडता है किन्तु उनके स्थान पर नवीन मूल्यो की रचना नही हो पाती है तब एक अराजकता की सी स्थिति होने लगती है। इससे बचने का यही सही उपाय होता है कि पुराने मूल्य बदलें और उनके स्थान पर नये मूल्य बनते जावें। इसमे यह याद रखना चाहिये कि सब पुराना गलत नही होता और सब नया सही नही होता। इसमे हंसवत् विवेक होना चाहिये कि कौन से पुराने मूल्यो मे भी नई सृजन शक्ति भरी हुई है तथा कौन से नये मूल्य नये होने पर भी सजीव नहीं हैं? मूल्य बदले और मूल्य बनें—इस क्रम मे यह विवेक सतत जागृत रहना चाहिये और विशेषरूप से समता-समाज जैसे सगठन के लिये तो यह अत्यधिक जागृति का विषय होना चाहिये कि मूल्य बदलने और मूल्य बनाने का कार्य शुद्ध रचनात्मक दृष्टिकोण मे हो।

विनाश और सृजन का क्रम

मूल्य बदलना विनाश का पक्ष है और मूल्य बनाना सृजन का पक्ष। विकृत को नष्ट करना अनिवार्य है और उसी की पृष्ठभूमि पर नये सृजन की आधारशिला रखी जाती है। जैनदर्शन ने इस क्रम को सर्वोच्च स्तर तक स्वीकार किया है। आत्मा जब परमात्मा के स्वरूप की ओर बढती है तो उसका पहला चरण विनाश का होता है। पहले चरण को सफल बना लेने वाला अरिहन्त कहलाता है। जो अरियो—शत्रुओ को

नष्ट कर दे—वह अरिहन्त । यह विनाश व्यक्तियो से सम्बन्धित नही होता—विकारो से सम्बन्धित होता है। मिलावटी सोना होने पर कोई सोने को नही फेंकता वल्कि उसके मैल को कडी से कडी विधि द्वारा निकाल कर सोने को शुद्ध रूप दिया जाता है। वैसे ही व्यक्तियो के विनाश का जो सिद्धान्त-निर्देश देता है, वह भ्रामक होता है। विकृत से विकृत व्यक्ति हो उसकी विकृति को निकाल कर व्यक्ति को शुद्ध रूप प्रदान करना ही किसी भी श्रेप्ठ सिद्धान्त का लक्ष्य होना चाहिये। कही भी विकृति हो—विपमता हो—उससे मघर्प करना और उसे नष्ट करना—यह उत्थानगामी जीवन का पहला चरण होना चाहिये।

तव दूसरा चरण सृजन का प्रारम्भ होता है। जो अरिहन्त होकर ऊँच आदर्शो को अपने जीवन मे उतार कर उसका प्रकाश सारे ससार मे फैलाता है, वही सिद्ध वनता है। जो माध ले सो सिद्ध, और सिद्ध सृजन की सफलता का प्रतीक होता है। विनाश और सृजन—सघर्प और निर्माण -ये दोनो जीवन के रचनामूलक पहलू होते हैं। समता-समाज को भी इन्ही पहलुओ को हृदयगम करके निर्माण की नई दिशा मे आगे वढना होगा।

जीवन के चहुँमुखी विकास मे समता

विपमता के मूल स्वार्थ पर जितना नियन्त्रण—जितना आघात सफल वनता जायगा, क्या तो व्यक्ति के जीवन मे और क्या सामाजिक जीवन मे—उतने ही अशो मे विपमता का विनाश भी सम्भव हो सकेगा। वाहर का परिग्रह घटेगा तो अन्दर की ममता भी घटेगी। ममता घटेगी और समता वढेगी। समता होगी तो अनासक्ति भाव का प्रसार होगा—फिर वाहर के सामाजिक जीवन मे परिग्रह की आवश्यकता तो होगी, उसका उपयोग भी किया जायगा, किन्तु उसके प्रति लोभ नही होगा—स्वार्थ नही होगा और सग्रह की कुटिल वृत्ति भी नही होगी तो फिर

भला किसी भी प्रकार की विषमता जीवन की सहज समता को कैसे अपरूप वना सकेगी ?

जीवन के चहुमुखी विकास मे विषमता के अवरोध जब विनष्ट हो जायेंगे तो समता की सर्वजन हितकारी भावना से ओत-प्रोत होकर मनुष्य अपने विकास मे सम्पूर्ण समाज के विकास को ही प्रतिविम्बित करेगा। तब व्यक्ति के विकास से समाज का विकास पुष्ट होगा तो समाज के विकास से व्यक्ति का विकास सरलता से पूर्णता पाप्त कर सकेगा। इस चहुँमुखी विकास की सशक्त कडी सिर्फ समता ही हो सकती है।

सर्वरूपी समता

यह समता एक मे नही, सर्व रूप मे स्थापित की जानी चाहिये। जीवन के जितने रूप हैं—बाहर के और अन्तर के, उन सब रूपो मे समता का समावेश होना चाहिये। विषमता वैसी आग है जो यदि एक क्षेत्र मे भी विना वुझाये छोड दी जाय तो वह वहाँ से फैलकर दूसरे क्षेत्रो मे भी प्रवेश करने लगेगी। इस कारण यह आवश्यक है कि जीवन के सभी क्षेत्रों मे, कार्य-कलापो एव विधि उपायो मे समतामय प्रणाली की प्राण-प्रतिष्ठा होनी चाहिये।

वाह्य जीवन की दृष्टि से देखें कि राजनैतिक क्षेत्र मे समान मताधिकार से समता कायम कर ली, किन्तु आर्थिक क्षेत्र मे विपमता है तो उसका क्या परिणाम होता है—यह आज चारो ओर देखने को मिल सकता है। मत सभी का समान होता है, किन्तु जो आर्थिक दृष्टि से सशक्त होता है, वह कितने ही मतो को अपने लिये खरीदकर राजनैतिक समता की धज्जियाँ उडा देता है। उसी तरह वाह्य जीवन मे समता की स्थितिथा, कल्पना करें कि वना भी ली जाय, किन्तु अन्तर्मन विपमता से भरा हो तो वह वाहर की समता कव तक टिकी हुई रह सकेगी ? वासनाएँ और लालसाएँ जव आक्रामक होकर अन्तर्मन पर टूटेगी, तव वाहर की समता का कच्चा आवरण भी फट जायगा।

इसी कारण समता सर्वरूपी वननी चाहिये। अन्दर के जीवन मे पहले समता आवे और वही वाहर के जीवन के विविध रूपो मे फूटे तो वह समता स्थायी रह सकेगी और फलवती भी वन सकेगी। सभी ठौरो पर समता का प्रवेश हो जव तक ऐसा न हो—विषमता के विनाश का कार्य चलता रहे। सभी स्थानो से विषमता का विनाश और फिर सभी स्थानो पर समता की स्थापना—यह क्रम साथ-साथ चलता रहना चाहिये।

सर्व-व्यापी समता

सर्वरूपी समता सर्वव्यापी भी वननी चाहिये। जीवन के सभी रूपो मे समता ढले किन्तु अगर वह सभी जीवनो मे नही ढले तो समता का सामूहिक चित्र साकार नही हो पायगा और इसके विना समता का सर्वव्यापी वन पाना भी सम्भव नही होगा। सर्वव्यापी समता को जीवन के स्थूल स्थानो से लेकर सूक्ष्म स्थानो तक प्रवेश करना होगा। अन्तर्मन यदि समता के मूल्यो को गहराई से धारण कर ले तो राजनीति, अर्थ या समाज का क्षेत्र हो—उनमे समता की प्रतिष्ठा करने मे अधिक कठिनाई नही आवेगी, किन्तु अगर मनुष्य का अन्तर्मन ही स्वार्थ और विकार मे डूवा हो तो समता के स्थूल क्षेत्रो मे परिवर्तन काफी टेडा और कठिन होगा।

यही कारण है कि आन्तरिक विपमता को मिटाने का पहले निर्देश किया जाता है। किसी भी सामूहिक कार्य का सफल श्रीगणेश भी उसी अवस्था मे किया जा सकता है, जव कुछ ऐसे लोग तैयार होते है जो अपने अन्तर की विपमता को घटा कर समता का सन्देश लेकर आगे वढते हैं। साथ मे यह भी सत्य है कि ऐसे लोग किसी भी सगठन अथवा आन्दोलन के जरिये जिस वातावरण का निर्माण करते हैं, वह भी अन्य व्यक्तियो की जागृति का कारणभूत वनता है। कुछ लोगो को आन्तरिक समता वाहर की ममता-स्थापना मे योग देती है तो वह

स्थापित बाहर की समता भी अन्य व्यक्तियो की आन्तरिक समता को जगाती और प्रबुद्ध बनाती है। सर्व-व्यापी समता की ऐसी ही परस्पर प्रक्रिया होती है।

समता-समाज को इस बिन्दु को ध्यान मे रखते हुए अपने कार्यक्रमो मे आन्तरिक विषमता को घटाने व मिटाने के अभियान को प्राथमिकता देनी चाहिये ताकि आन्तरिक समता-धारियो की एक सशक्त अहिंसक सेना तैयार की जा सके, जो अमित निष्ठा के साथ बाह्य समता की स्थापना मे जूझ सके और उसका वह जूझना न सिर्फ बाह्य समता की स्थापना को यत्र-तत्र और सर्वत्र साकार रूप दे, बल्कि वह बहुसख्यक लोगो की आन्तरिक समता को भी प्राणवान बनावे।

समता मे सुख, समृद्धि और शान्ति

सर्वरूपी और सर्वव्यापी समता जिस व्यक्ति व समाज के जीवन मे घुमती और छा जाती है, वहाँ सुख, समृद्धि और शान्ति का निर्झर प्रवाहित होने लगता है। वह जीवन आनन्दमग्न ही नही बनता, परमानन्द मे लीन हो जाता है।

यह सुख कैसा—समृद्धि और शान्ति कैसी ? इन शब्दो को साधारण रूप से जिन अर्थों मे समझा जाता है, समता के क्षेत्र मे वे प्राप्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। सत्ता व सुख भी मिलता है, सम्पत्ति की समृद्धि भी मिलती है तथा भौतिक सुखो की शान्ति भी मिलती है, किन्तु समताधारी ऐसे सुख, समृद्धि और शान्ति की छलना को समझ जाता है—इस कारण इनसे उपेक्षित होकर वह अपना रुख सच्चे सुख, सच्ची समृद्धि और सच्ची शान्ति की ओर मोड लेता है। जो बाहर की समृद्धि और शान्ति है, वह नश्वर होती है, उनमे आन्तरिकता को आनन्दमग्न करने की भी स्थिति नही होती। यह रात दिन के अनुभव की बात है कि बाहर का कितना ही सुख हो किन्तु अन्दर मे अगर क्लेश और चिन्ता की आग सुलगती हो तो क्या वह बाहर की सुख सामग्री वास्तविक सुख दे सकती

है ? इस कारण जो अन्तर का सुख मिलता है, वही सच्ची शान्ति भी प्रदान करता है और ऐसी शान्ति को प्राप्त करने वाला ही वास्तव मे समृद्ध कहलाता है।

समता की साधना से जो सुख मिलता है वह दूसरो को सुख देने से मिलता है, इसलिये सच्चा और स्थायी होता है। इसी समताभरे सुख से जो समृद्धि और शान्ति का निर्झर वहता है, उसमे जो जीवन डुबकियाँ लगाता है, वही जीवन कृतकृत्य एव धन्य हो जाता है।

समता साधक का जीवन धन्य होगा ही

समता का साधक रत्न त्रय (सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य) का साधक होता है, इस कारण सभी प्रकार के वन्धनो से मुक्ति का साधक होता है। उसकी विशेपता यह होती है कि वह समग्र विश्व को और उसमे रहने वाले समस्त प्राणियो को समभाव से देखता है—उसके लिए न कोई प्रिय होता है, न अप्रिय। वह निष्पक्ष एव निर्द्वन्द्व होता है। समभावी साधक की सफलता उसकी भयमुक्ति पर आधारित होती है, कारण, वही समभाव की सफल साधना कर सकता है, जो अपने आपको प्रत्येक प्रकार के भय से मुक्त रख सकता है। भयावह सकट की घडियो मे भी वह किसी भी तरह से डावाडोल नही होता है। वह किसी लाभ से हर्पित नही होता तो कैसे भी अलाभ से विपाद नही पाता।

शास्त्रो मे निर्देश दिया गया है कि एक समता-साधक सर्वदा और सर्वत्र समता का ही आचरण करे तथा श्रेष्ठ व्रतो का पालन करता रहे। समभावी सवके लिए पूजा और सम्मान का पात्र होता है, क्योकि राग-द्वेप की भावना से वह विलग रहता है। वह अपने विचार, वचन तथा कार्य से हमेशा मध्यस्थ तथा तटस्थ रहता है। उसके भीतर या वाहर किसी प्रकार की ग्रथि नही रहती है क्योकि साम्य भावना की प्रखरता मे किसी ग्रथि का अस्तित्व वना ही नही रह सकता है। समत्व योगी कही किसी तरह का भेद देखता नही, रखता नही और कभी भेद की क्षीण रेखा भी आ गई तो उसके लिये वह खेदग्रस्त होता है। वह सयम, नियम और तप

मे सुस्थिर भाव से चलता रहता है। उसका उद्देश्य सम्पूर्ण विश्व के कल्याण तक विस्तृत और प्रसारित हो जाता है।

अन्त मे यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि जो समता की साधना करेगा, उसका स्वयं का जीवन तो धन्य होगा ही किन्तु वह समाज के जीवन को भी धन्य बनायेगा।

समता समाज के साधको के लिए यह ऊँचा लक्ष्य प्रकाशस्तंभ का काम दे और वे जीवन के सभी अन्दर-बाहर के क्षेत्रो मे समता का प्रसार करें—यह वाछनीय है। जो क्रान्ति की मशाल को अपने मजबूत हाथो मे पकडते हैं, वे उस मशाल से विकृति को जलाते हैं तो प्रगति की दिशा को प्रकाशित करते हैं। समता की मंजिल इसी मशाल की रोशनी मे मिलेगी।